

## विषयानुक्रमणिका.

—०००—

विषय.	पृष्ठ.	विषय	पृष्ठ.
विषयानुक्रमणिका	.... ०	महर्षि पतञ्जलीकी द्व-	
परिचय	.... १	टिविशालता	.... ४६
प्रस्तावना	.... १	आचार्य हरिभद्रकी यो-	
योगदर्शन	.... २	गमार्गमें नवीन दिशा.	९९
योगशब्दका अर्थ	.... २	उपमंहार	.... ६६
दर्शनशब्दका अर्थ	.... ४	पातञ्जलयोगदर्शन वृत्तिसह	१
योगके आविष्कारका श्रेय	४	योगविंशिका सटीक	.... ९६
आर्य मन्त्रतिकी जड		योगवृत्तिका मार	.... ९१
ओं और आर्य जातिका लक्षण	१०	योगविंशिकाका मार	.... ११४
ज्ञान ओं योगका संब-		योगमृतवृत्ति तथा योगविं-	
न्ध तथा योगका दर्जा	११	शिकावृत्तिमें प्रमाणरूपसे	
व्यावहारिक और पार-		आये हुए अवतरणोंका	
मार्थिक योग	.... १३	दण्डमानुसारी परिशिष्ट	
योगकी दो धारायें	.... १४	नं० १	.... १४०
योग और उसके सा-		योगमृतवृत्ति और योगविं-	
हित्यके विकासका दि-		शिकाटीकामें आये हुए	
दर्शन	.... १५	अवतरणोंका कर्ता आर	
योगशास्त्र	.... ३८	ग्रन्थके नाम निर्देशमं-	
		बन्धी परिशिष्ट नं० २.	१४१

## परिचय.

यात्रकोंके समझ प्रस्तुत पुस्तक उपस्थित करते हुए इसका मंक्षेपमें परिचय करना जरूरी है। शुरूमें प्रस्तावना रूपमें योगदर्शन पर एक विस्तृत निबन्ध दे दिया गया है जिसमें योग तथा योग-सम्बन्धी साहित्य आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक वार्ता पर मध्यमाण विचार किया गया है। तत्पश्चात् इस पुस्तकमें मुख्यतया योगसूत्रवृत्ति और सटीक योगविद्यिका इन दो ग्रन्थोंका मंग्रह है, तथा साथमें उनका हिंदी सार भी दिया हुआ है। अतपश्च उक्त दोनों ग्रन्थोंका, उनके कर्ता आदिका तथा हिंदी सारका कुछ परिचय कराना आवश्यक है, जिसमें वाचकोंको यह मालूम हो जाय कि ये ग्रन्थ कितने महत्वपूर्ण हैं, और इनके कर्ताका स्थान कितना उच्च है। साथ ही यह भी विद्वित हो जाय कि मूल ग्रन्थोंके साथ उनका हिंदी सार देनेसे हमारा क्या अभिप्राय है। आशा है इस परिचय-को ध्यानपूर्वक पढ़नेमें वाचकोंकी रुचि उक्त दो ग्रन्थोंकी ओर विशेष रूपमें उत्तेजित होगी, ग्रन्थकर्ताओंके प्रति वहु-मान पैदा होगा। और हिंदी सार देख कर उससे मूल ग्रन्थके भावको समझ लेनेकी उचित आकांक्षा पैदा होगी।

(१) योगसूत्रवृत्ति—यह वृत्ति योगसूत्रोंकी एक छोटी भी टिप्पणिरूप व्याख्या है। योगसूत्रोंमें सांगोपांग योगप्रक्रिया है, जो सांख्य-मिद्धान्तके आधार पर लीखी गई है। उन सूत्रों-के ऊपर सबसे प्राचीन और सबसे अधिक महत्वकी टीका महर्षि व्यासका भाष्य है। यह प्रसन्न गंभीर और विस्तृत भाष्य सांख्य मिद्धान्तके अनुसार ही रचा गया है, एवं वृत्ति जैन प्रक्रियाके अनुसार रची गई है। अतपश्च जिस जिस

विषयमें मांख्य और जैन शास्त्रका मत-भेद है तथा जिस जिस विषयमें मतभेद न होकर मिर्के वर्णन-पद्धति या मांकेतिक शब्द मात्रका भेद है उस उस विषयके वर्णनवाले सूत्रोंके ऊपर ही वृत्तिकारने वृत्ति लीखी है, और उसमें भाष्यकारके द्वारा निकाले गये सूत्रगत आशयके ऊपर जैन प्रक्रियाके अनुसार या तो आक्षेप किया है या उस आशयके साथ जैन मन्तव्यका मिलान किया है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि यह वृत्ति योगदर्शन तथा जैन दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तोंके विरोध और मिलानका एक छोटा सा प्रदर्शन है। यही कागण है कि प्रस्तुत वृत्ति सब योगसूत्रोंके ऊपर नहीं कर क्षतिप्रय सूत्रोंके ऊपर ही है। योगसूत्रोंकी कुल संख्या १९५ की है और वृत्ति मिर्क २७ सूत्रोंके ऊपर ही है। सब सूत्रोंकी वृत्ति न होने पर भी प्रस्तुत पुस्तकमें हमने सूत्र तो सभी दे दिये हैं पर भाष्य तो सिर्फ उन्हीं सूत्रोंका दिया है जिन पर वृत्ति है। ऐसा करनेके मुख्य दो कारण हैं (१) सूत्रोंका परिमाण बड़ा नहीं है और (२) वृत्ति पढ़नेवालेको कमसे कम मूल सूत्रोंके द्वारा भी संपूर्ण योगप्रक्रियाका ज्ञान करना हो तो इसके लिए अन्य पुस्तक ढूँढ़नेकी आवश्यकता न रहे। इसके विपरीत भाष्यका परिमाण बहुत बड़ा है और वह कई जगह अच्छे ढंगसे छप भी चुका है। यथापि वृत्ति पढ़नेवालेको योगदर्शनके मौलिक सिद्धान्त जानने हों तो उसका वह उद्देश्य भाष्य विना देखे भी सिद्ध हो सकता है। फिर भी वृत्तिवाले सूत्रोंका उपयोगी भाष्य उस उस सूत्रके नीचे इस लिए दिया है कि वृत्ति समझनेमें पाठकोंका अधिक सुभीता हो, क्योंकि वृत्तिकारने भाष्यकारके आशयको ध्यानमें रख कर ही अपनी वृत्तिमें अर्थ त्वक् मतभेद और ऐकमत्य दिखाया है। केवल जैन दर्शनको जाननेवाले संकुचित दृष्टिके कारण यह नहीं जानते

कि अन्य दर्शनके साथ जैन दर्शनका किस किस सिद्धान्तमें  
कितना और कैसा वास्तविक मतभेद या मतैक्य है । इसी  
प्रकार केवल वैदिक दर्शनको जाननेवाले विद्वान् भी एकदेशीय  
दृष्टिके कारण यह नहीं जानते कि जैन दर्शन किन किन बातों-  
में वैदिक दर्शनके साथ कहाँ तक और किस प्रकार मिल जाता  
है । इस पारस्परिक अज्ञानके कारण दोनों पक्षके विद्वान् तक  
भी बहुधा, एक दूसरेके ऊपर आदर रखना तो दूर रहा,  
अनुचित हमला किया करते हैं, जिससे साधारण वर्गमें भ्रम  
फैल जाता है और वे खंडन मंडनमें ही अपनी शक्तिका खर्च कर  
डालते हैं; इस विषमताको दूर करनेके लिए ही यह वृत्ति  
लिखी गई है । यही कारण है कि इसका परिमाण बहुत छोटा  
होने पर भी इसका महत्व उससे कई गुना अधिक है । जैन  
दर्शनकी भित्ति स्याद्वाद सिद्धान्तके ऊपर खड़ी है । प्रामाणि-  
क अनेक दृष्टियोंके एकत्र मिलानको ही स्याद्वाद कहते हैं ।  
स्याद्वाद सिद्धान्तका उद्देश्य इतना ही है कि कोई भी समझ-  
दार व्यक्ति किसी वस्तुके विषयमें सिद्धान्त निश्चित करने  
समय अपनी प्रामाणिक मान्यताको न छोड़े परन्तु साथ ही  
दूसरोंकी प्रामाणिक मान्यताओंका भी आदर करे । सचमुच  
स्याद्वादका सिद्धान्त हृदयकी उदारता, दृष्टिकी विशालता,  
प्रामाणिक मतभेदकी जिज्ञासा और वस्तुकी विविध-रूपताके  
ख्याल पर ही स्थिर है । प्रस्तुत वृत्तिके द्वारा उसके कर्त्ताने  
उक्त स्याद्वादका मंगलमय दर्शन याग्य जिज्ञासुओंके लिए  
सुलभ कर दिया है । हमें तो यह कहनेमें तनोक भी संकोच  
नहीं है कि प्रस्तुत वृत्ति जैन और योग दर्शनके मिलानकी  
दृष्टिसे गंगा यमुनाका संगमस्थान है, जिसमें मतभेदरूप  
जलका वर्ण भेद होने पर भीदोनोंकी एकरसता ही अधिक है ।

स्पष्ट और सर्वांग परिपूर्ण है। मूलपर उसकी टीकामें टीकाकारने पूरा प्रकाश डाला है, जिसका पुरा परिचय तो उस टीकाके देखनेसे ही हो सकेगा।

पाठकोंसे हमारा अनुरोध है कि वे योगविंशिकाकी टीकाको पढ़कर टीकाकारकी बहुधुतगमिनी बुद्धि और अनेक शास्त्रदोहनका थोड़े ही में आस्वाद लें।

**ग्रन्थकर्ता**—ऊपर जिस वृत्तिका परिचय कराया गया है, उसके रचयिता जैन विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी हैं। योगविंशिकाकी टीकाके कर्ता भी वे ही हैं। वृत्तिके मूलरूप योगसूत्रके प्रणेता वैदिक विद्वान् महर्षि पतञ्जलि हैं और मूल योगविंशिकाके रचयिता जैन विद्वान् आचार्य हरिमद्र हैं। इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकर्तास्तपसे उक्त तीव्र व्यक्तिओंका परिचय कराना आवश्यक है।

( १ ) **पतञ्जलि**—इनके जन्मस्थान, माता, पिता, समय आदिके विषयमें विद्वानोंने बहुत ऊहापांह किया है पर अभीतक यही निश्चित नहीं हुआ कि योगसूत्रकार पतञ्जलि, पाणिनीय व्याकरणसूत्र पर भाष्य रचनेवाले महाभाष्यकार नामसे प्रसिद्ध पतञ्जलिसे जुदा थे या दोनों एक ही थे। महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतञ्जलिकी मिलता या एकताके मम्बन्धमें आजतक कीर्गई खोजोंसे अधिक विचार प्रदर्शित करनेके लिए न तो हमने पर्याप्त अवलोकन ही किया है और न उसकी अधिक गवेषणा करनेके लिए अभी हमें समय ही प्राप्त है, इसलिए इस विषयके जिज्ञासुओंके लिए हम सरल भावसे अन्य विद्वानोंकी गवेषणाओंको देखनेकी ही सिफारिश करते हैं।

हम अन्य इतिहासका<sup>१</sup> विद्वानोंके इस अनुमानके आधार पर सिर्फ संतोष मान लेते हैं कि योगसूत्रकार यदि महाभाष्यकार ही थे तो उनका समय इ. पूर्व दूसरी शताब्दी माना जाना चाहिए और यदि दोनों भिन्न थे तो योगसूत्रकार पतञ्जलिका समय इ. के बाद दूसरीसे चौथी शताब्दी तकमें माना जाना चाहिए। अस्तु ! पतञ्जलिके बाद आवरणको निश्चित रूपसे जाननेका साधन अभी पूर्णतया प्राप्त न होने पर भी इनकी विचार-आत्माका साक्षात् दर्शन योगसूत्रमें हो ही जाता है जो कम सौभाग्यकी बात नहीं है। इनकी आत्मा इतना काल बीत जाने पर भी योगसूत्रोंमें जागती है। जिसके पास एक बार आनेवाला पाषाण हृदय व्यक्ति भी सिर झुकाये बिना, किंवहुना दासानुदास हुए बिना नहीं रह सकता। इनके योग-सूत्रका थोड़ेमें परिचय करनेके अभिलाखिओंका ध्यान हम प्रस्तावना पृष्ठ ३८ पर 'योगशास्त्र' शीर्षक पेरेकी ओर खींचते हैं और इनके महर्षिपनका परिचय करनेकी इच्छावालोंका लक्ष्य "महर्षि पतञ्जलिकी वृष्टिविशालता" शीर्षक भागकी ओर खींचते हैं प्रस्तावना पृ. ४६

( २ ) हरिभद्र— इस नामके श्वेताम्बर संप्रदायमें अनेक आचार्य हुए हैं। पर योगविद्यिकाके कर्ता प्रस्तुत हरिभद्र उन मन्त्रमें पहले है जो याकिनि महत्तरा सूनुके नामसे और १४४४ ग्रन्थप्रणेताके रूपसे प्रसिद्ध हैं उनका समय वि. की<sup>२</sup> 'आठवीं'<sup>३</sup> नववर्षी शताब्दी अभी निर्णय किया गया है। उनके जीवनका हाल अभी तक जो कुछ<sup>४</sup> प्रकट हुआ है उसकी अपेक्षा अधिक

१ देखो वुड अनुवादित योगदर्शनकी इंग्लीश प्रस्तावना। २ देखो श्रीजिन-विजयनी लिखित हरिभद्रसूरिका समर्थनिर्णय जैन साहित्यसंशोधक अंक १। ३ देखो पं. हरगोविंदास लिखित जीवनचरित्र।

लिखनेकी अभी हमारी नहीं है, अलवते यह हमारा स्वयाल हुआ है कि उनके जीवन पर पूरा प्रकाश डालनेके बास्ते जैसा चाहिए वैसा उनके ग्रन्थोंका गहरा अवलोकन अभीतक किसीने नहीं किया है वैसा अवलोकन करके निश्चित सामग्रीके आधार पर विशेष लिखनेकी हमारी हार्दिक इच्छा है । परंतु ऐसा सुयोग कब आवेगा यह कहा नहीं जा सकता । अतएव अभीतकके उनके ग्रन्थोंके अवलोकनसे उत्पन्न हुए भाषको मिर्फ़ एक, दो वाक्योंमें जना देना ही समुचित है ।

जैन आगमों पर सबसे पहले संस्कृतमें टीका लिखनेवाले, भारतीय समग्र दर्शनोंका सबसे पहले वर्णन करनेवाले, जैन शास्त्रके मूल सिद्धान्त अनेकान्तपर तार्किक रीतिसे व्यवस्थित रूपमें लिखनेवाले और जैन प्रक्रियाके अनुसार योगविषय पर 'नई रीतिसे लिखनेवाले ये ही हरिभद्र हैं । इनकी प्रतिभाने विविध विषयके जो अनेक ग्रन्थ उत्पन्न किये हैं उनसे केवल जैन भाष्यकाल दो नहीं किन्तु भारतीय संस्कृत, प्राकृत साहित्यका मुख्यउत्कर्षवाल है ।

३ यह कथन उपलब्ध ग्रन्थोंकी अपेक्षामें समझना अन्यथा हरिभद्रमूर्गिके पहले भी योगविषय पर लिखनेवाले विशिष्ट जैनाचार्य हुए हैं, जिनके अनेक वाक्योंका अवतरण दंत हुए हरिभद्रमूर्गिने योगदर्शि समुच्चयकी टीकामें 'योगाचार्य' इस प्रतिष्ठामूर्चक नाममें उल्लेख किया है, इसके लिए देखो यो० स० श्यो० १८, १९, २२, ३५, आदिकी टीका ।

अवतरण वाक्योंमें माफ जान पड़ता है कि 'योगाचार्य जैनाचार्य हो थे । यह नहीं कहा जा सकता है कि वे श्रेनाम्बर थे या दिग्म्बर । उनका असली नाम क्या होगा सो भी मालूम नहीं, इसके लिए विद्वानोंको खोज करनी चाहिए । सम्भव है उनके किसी ग्रन्थकी उपलब्धियमें या अन्यत्र उद्दृत विशेष प्रमाणमें अधिक बानोंका पता चले ।

इनके बनाये हुए जो '१४४४' प्रक्षय कहे जाते हैं वे सब 'उपलक्ष्य नहीं हैं परन्तु आज जितने उपलक्ष्य हैं वे भी हमारे लिए तो सारी जिन्दगी तक मनन करने और शास्त्रीय प्रत्येक विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पर्याप्त हैं।

**यशोविजय**—ये विक्रमकी सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दी में हुए हैं। इनका इतिहास अभीतक जो कुछ प्रकाशित हुआ है वह पर्याप्त नहीं है। इनके विशिष्ट इतिहासके लिए इनके सभी ग्रन्थोंका सांगोपांग बारीकीके साथ अवलोकन आवश्यक है। इसके लिए समय और स्वास्थ्य चाहिए जो अभी तो हमारे भाग्यमें नहीं है पर कभी इस कामकी नैयारी करनेकी ओर बहुत लक्ष्य रहता है। अस्तु अभी तो वाचक-यशोविजयका परिचय इतनेहीमें कर लेना चाहिए कि उनकी सी समन्वयशक्ति रखनेवाला, जैन जैनेतर मौलिक ग्रन्थोंका गहरा दोहन करनेवाला, प्रत्येक विषयकी तह तक पहुँच कर उस पर समझाव-पूर्वक अपना स्पष्ट मन्तव्य प्रकाशित करनेवाला, शास्त्रीय वैलौकिक भाषामें विविध साहित्य रच कर अपने सगल और कठिन विचारोंको सब जिज्ञासु तक पहुँचानेकी चेष्टा करनेवाला और सम्प्रदायमें रह कर भी सम्प्रदायके बंधनकी परवान कर जो कुछ उचित ज्ञान पढ़ा उन पर निर्भयता पूर्वक लिखनेवाला, केवल प्रवेताम्बर, दिगंबर समाजमें ही नहीं बल्कि जैनेतर समाजमें भी उनका सा कोई विशिष्ट विद्वान् अभी तक हमारे ध्यानमें नहीं आया। पाठक स्मरणमें रखें यह अन्युक्ति नहीं है। हमने उपाध्यायजीके और दूसरे विद्वानोंका ग्रन्थोंका अभीतक जो अल्प मात्र अवलोकन किया है उसके आधार पर तोल नापकर-ऊपरके वाक्य लिखे हैं। निःसन्देह प्रवेताम्बर और दिगंबर समाजमें अनेक बहुसुन विद्वान् हो गये हैं, वैदिक तथा ब्रौदू सम्प्रदायमें भी प्रबंध

विद्वानका कमी नहीं रही है; खास कर वैदिक विद्वान् तो सदाहीसे उच्च स्थान लेते आये हैं, विद्या मानों उनकी बपौती ही है; पर इसमें शक नहीं कि कोई बौद्ध या कोई वैदिक विद्वान् आज नक ऐसा नहीं हुआ है जिसके ग्रन्थके अबलोकन से यह जान पड़े कि वह वैदिक या बौद्ध शास्त्रके उपरान्त जैन शास्त्रका भी वास्तविक गहरा और सर्वव्यापी ज्ञान रखता हो। इसके विपरीत उपाध्यायजीके ग्रन्थोंको ध्यानपूर्वक देखने-वाला कोई भी बहुश्रुत दार्शनिक विद्वान् यह कहे बिना नहीं रहेगा कि उपाध्यायजी जैन थे इन्हिए जैनशास्त्रका गहरा ज्ञान तो उनके लिए सहज था पर उपनिषद्, दर्शन आदि वैदिक ग्रन्थोंका तथा बौद्ध ग्रन्थोंका इतना वास्तविक, परिपूर्ण और स्पष्ट ज्ञान उनकी अपूर्व प्रतिभा और काशी भेषजनका ही परिणाम है।

**हिंदी सारका उद्देश्य**—ग्रन्थका महत्त्व, उसकी उत्तमी-गिता पर निर्भर है। उपर्योगिताकी मात्रा लोकप्रियताकी मात्रासं निश्चित होती है। अच्छा ग्रन्थ होने पर भी यदि सर्व साधारणमें उसकी एहुच न हुई तो उसकी लोकप्रियता नहीं हो सकती। जो अच्छा ग्रन्थ जितने ही प्रभाणमें अधिक लोक-प्रिय हुआ देखा जाता है उसका लोगों तक पहुँचानेकी उतनी ही अधिक चेष्टा की गई होती है। गीताका उतना अधिक प्रचार कभी नहीं होता यदि विविध भाषाओंमें विविध रूपसे उसका उल्था न होता, अतएव यह मावीत है कि शास्त्रीय भाषाके ग्रन्थोंको अधिक उपर्योगी और अधिक लोकप्रिय बनानेका एक मात्र उपाय लौकिक भाषाओंमें उनका परिवर्तन करना है। भारत वर्षके साहित्यको भारतके अधिकांश भागमें फैलानेका साधन उसको राष्ट्रीय हिंदी भाषामें परिवर्तित करना यही है। इसी कारण प्रस्तुत पुस्तकमें मूल मूल योगसूत्र

वृत्ति और सटीक योगर्धिशिका छपवानेके बाद भी उनका हिंदी सार पुस्तकके अन्तमें दिया गया है। सार कहनेका अभिप्राय यह है कि वह मूलका न तो अक्षरशः अनुवाद है और न अविकल भावानुवाद ही है। अधिकल भावानुवाद नहीं है इस कथनसे यह न समझना कि हिंदी सारमें मूल ग्रन्थका असली भाव छोड़ दिया है, जहाँतक होसका सार लिखनेमें मूल ग्रन्थके असली भावकी ओर ही स्थाल रखा है। अपनी ओरसे कोई नई बात नहीं लिखी है पर मूल ग्रन्थमें जो जो बात जिस जिसक्रमसे जितने जितने संक्षेप या विस्तारके साथ जिस जिस ढंगमें कही गई है वह सब हिंदी सारमें ज्यों की त्यों लानेकी हमने चेष्टा नहीं की है। दोनों सार लिखनेका ढंग भिन्न भिन्न है इसका कारण मूल ग्रन्थोंका विषयभेद और रचना भेद है।

पहले ही कहा गया है कि वृत्ति सब योग सूत्रोंके ऊपर नहीं है। उसका विषय आचार न होकर तत्त्वज्ञान है। उसकी भावा साधारण संस्कृत न होकर विशिष्ट संस्कृत अर्थात् दार्शनिक परिभाषासे मिश्रित संस्कृत और वहभी मर्वीन न्याय परिभाषाके प्रयोगसे लदी है। अतएव उनका अक्षरशः अनुवाद या अविकल भावानुवाद करनेकी अपेक्षा हमको अपनी स्वीकृत पद्धति ही अधिक लाभदायक जान पड़ी है। वृत्तिका सार लिखनेमें यह पद्धति गर्खी गई है कि सूत्र या भाष्यके जिस जिस मन्तव्यके साथ पूर्णरूपसे या अपूर्णरूपसे जैन दृष्टिके अनुसार वृत्तिकार मिल जाते हैं या विरुद्ध होते हैं उस उस मन्तव्यको उस उस स्थानमें पूर्यकरण पूर्वक संक्षेपमें लिखकर नीचे वृत्तिकारका संवाद या विरोध क्रमशः संक्षेपमें सूचित कर दिया है। सब जगह पूर्वपक्ष और उत्तर पक्षकी सब दलीलें सारमें नहीं दी हैं। सिर्फ़ सार लिखनेमें यही ध्यान रखा गया है कि वृत्तिकार कीम बात पर क्या कहना चाहते हैं।

योग त्रूत्र वृत्तिकं अधिकारी तीन प्रकारकं हो सकते हैं । पहले विशिष्ट विद्वान् । दूसरे संस्कृत भाषाकों माधारण जाननेवाले किन्तु दर्शनप्रेमी । तीसरे संस्कृत भाषाकों बिल्कुल नहीं जाननेवाले किन्तु दर्शनविद्याकी रुचिवाले । पहले प्रकारकं अधिकारी तो हिंदी सारकं सिवाय ही मूल ग्रन्थ देख सकेंगे उनके लिए यह सार नहीं है । दूसरे प्रकारकं अधिकारीको मूल ग्रन्थ सुगम हो सके और तीसरे प्रकारकं अधिकारीको मूल वस्तु मात्र सुगम हो सके इस दृष्टिसे वृत्तिका मार लिखा गया है ।

योगविद्विषिका गाथावद्व स्वतन्त्र ग्रन्थ है । उसका विषय योग ( चारित्र ) है और उस पर परिपूर्ण समर्थ टीका है इस लिए इसका मार लिखनेकी पद्धति भिन्न है । प्रत्येक गाथाका नंबरवार भाषानुसारी अर्थ लिखकर उसके नीचे खुलासेके नौर पर टीकाका उपयोगी अंश लेकर मार लिखा गया है । प्राकृत संस्कृत कम जाननेपर या बिल्कुल नहीं जानने पर भी जो जैन योगके जिज्ञासु हैं उनको न तो बुद्धि पर बोझ ही पढ़े और न बस्तु ही अज्ञात रहे इस दृष्टिसे अर्थात् वैसे अधिकारिओंको विशेष उपयोगी होसके इस खयालसे यह मार लिखा गया है ।

दोनों सार विशेष उपयोगी होसके इस दृष्टिसे हमने समय और धमकी परवा न करके सारको विशेष उपयोगी बनानेकी चेष्टा की है, किर भी रुचिभेद या अन्य किसी कारणमें जिमका कुछ भी कमी जान पड़े वह हमें प्रचित करें या स्वयं उस कमीको दूर करनेकी चेष्टा करें ।

**आभार प्रदर्शन—** आँखोंसे लाचार होनेके कारण पढ़ने, लिखने आदिका मेरा सब काम पराश्रित है, अतएव उन्माह होनेपर भी यह कभी सम्भव नहीं कि योग्य सहायकोंके अभावमें प्रस्तुत पुस्तक सुझासे तैयार हो पाती । शाठक ! आप इस

पुस्तकों सब मुझ मेरे परम अद्वास्पद उन सहायकोंकी सहायता का ही परिणाम समझें, मैं तो इसमें स्वल्प निमित्त मात्र रहा हूँ। वे सहायक हैं प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजीके शिष्य मुनि श्री चतुरविजयजी और उनके शिष्य लघुवयस्क मुनि श्री पुण्यविजयजी। हन्तलिखित प्रतीयोंको संशोधित कर उन परमे प्रेस कापी करना पुफ देखना तथा हिंदीसारका संशोधन करके उसके प्रुफोंको देखना आदि सब बौद्धिक तथा शारीरिक काम उक्त लघुवयस्क मुनिने ही प्रधानतया किये हैं। उनके गुरु श्री चतुरविजयजी महाराजने उक्त काममें सहायता देनेके अलावा प्रेस, छपाई तथा अर्थसे संबंध रखनेवाली अनेक उल्लंगनोंको सुलझाया है। निःसन्देह उक्त दोनों गुरु शिष्यकी महाश्वयता, उन्साह शीलता और कुशलता सिर्फ मेरे ही नहीं बल्कि सभी साहित्यप्रेमीके धन्यवादके पात्र है। संक्षेपमें निष्पक्षभावसे इतना ही कहूँगा कि हीयमान साधुभावका विरलस्थपमें आज जिन इनि गिनि व्यक्तियोंमें दर्शन होता है उनमें प्रवर्तकजीकी गणना निःसंकोच भावसे की जानी चाहिए। प्रवर्तकजीके ही गुण उक्त दोनों गुरु शिष्योंमें, खासकर उक्त लघुवयस्क मुनिमें उत्तर आये हैं यह बात उनके परिचयमें आनेवाला कोई भी स्वीकार किये बिना न रहेगा।

योगसूत्रवृत्तिकी एक ही लिखित प्रति न्यायांभोनिधि आन्मागमजी महाराजके भाण्डारसे मिल सकी थी जिसके उपरसे प्रंस कापी तैयार की गई। उस प्रतिमें यत्र तत्र कई जगह अक्षर, पद या वाक्य तक खंडित हो गये थे। दूसरी प्रतिके अभावमें उस खंडित भागकी पूर्ति बहुधा अर्थानुसंधानजनित कल्पनासे किंवा उपाध्यायजीके ही रचित शास्त्रात्मसुच्यटीका आदि अन्य ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले समान विषयक

( १४ )

वर्णनके आधारसे की गई है। फिर भी कई जगह त्रुटियाँ पाठकी पूर्ति नहीं हो सकी। जहाँ कल्पनाद्वारा पूर्ति की गई है वहाँ कोष्टक आदि खाम चिह्न किये हैं या नीचे फुट नोटमें नूचना की है।

योगविशिकाके सम्बन्धमें भी वही बात है क्योंकि उसकी टीकाकी भी एक ही नकल मिल सकी। उस एक नकलको खांज नीकालनेका थ्रेय प्रवर्तकजीके ही स्वर्गवासी शिष्य मुनि श्री भक्तिविजयजीको ही है। वह एक नकल कालके गालमें जा ही रही थी कि सौभाग्यवश उक्त मुनिजीको मिल गई। प्रसंग ऐसा हुआ कि अमदाबादमें किसी श्रावकके वहाँ कचरेके रूपमें पुराने पत्ते पड़े थे, जिनको उक्त मुनिजीने देखा और उनमेंसे उनको उपाध्यायजी कृत योगविशिका टीकाकी पक अखंड नकल मिली जां उनके स्वहस्तलिखित ही है। यद्यपि उपाध्यायजीने श्री हरिभद्रकृत वीसों विशिकाओंके ऊपर टीका लिखी है जैसा कि योगविशिकाटीकाके इस्‌अन्तिम उल्लेखसे स्पष्ट है—

इति महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपरिण-  
तश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपरिणिडतश्रीनयविजयगणिचरणक-  
मलचञ्चरीकपरिणिडतश्रीपदविजयगणिसहोदरोपाध्यायश्रीजस-  
विजयगणिसमर्थितायां विशिकाप्रकरणव्याख्यायां योगविशि-  
काविवरणं सम्पूर्णम् ॥

तथापि प्रस्तुत एक विशिकाकी टीकाके सिवाय शेष उन्नीस विशिकाओंकी टीकाएँ आज अनुपलब्ध हैं। न जाने वे नाशका ग्रास हो गई, या कहीं अज्ञात रूपसे उक्त एक टीकाकी तरह कुड़े कचरेके रूपमें किसी संग्रह लोलुपके द्वारा हक्कित

होंगी। अस्तु, जो कुछ हो पर अब भी इतना सौभाग्य है कि मूल मूल वीसों विशिकाएँ कुछ खंडित रूपमें, कुछ अशुद्ध-रूपमें भी उपलब्ध हैं। छाया सहित उनको प्रकाशित करनेका तथा हो सका तो साथमें हिंदो सार देनेका हमारा विचार है। हमारा निवेदन है कि जिनके पास उक्त सब विशिकाएँ या उनकी अपूर्ण, पूर्ण टीकाएँ हों वे हमें उचित करें; क्योंकि यह सार्वजनिक संपत्ति है, एकवार जैसा छपा प्रायः फिर वैसा ही रहता है। छपनेके बाद लिखित प्रतियोंको कौन देखता है। इस दशामें छपानेसे पहले अधिकसे अधिक सामग्रीके द्वारा संशोधन आदि करना यही सब्दी भ्रुत-भक्ति है। हमारा काम प्राप्त सामग्रीका उपयोग करना मात्र है। इस लिप पुण्यशाली महानुभावोंका यह कर्तव्य है कि वे लिखित प्रति आदि अपने पास जो कुछ साधन हों उसको देकर प्रकाशकके निःस्वार्थ कार्यको सरल करें।

पहले इस पुस्तकको पाँच सौ नक्लें नीकलवानेका इरादा था पर पीछे हजार नक्लें नीकलवानेका विचार हुआ। किन्तु उस समय एक तरहके उतने कागज न थे और न तुरत मिल ही सकते थे, इसलिप निश्पाय होकर दो किसमके कागजों पर पाँच सौ पाँच सौ नक्लें नीकलवानी पड़ी हैं। फिर भी धारणासे कुछ अधिक मैटर बढ़ जानेके कारण और कई दिनों तक कौशिश करने पर भी एक जातिके मोटे अंन्दिक कागज न मिलनेसे अन्तमें लाचार होकर करीब दो फर्में दूसरी किस-मके मोटे कागज पर छपवाने पड़े हैं। अस्तु जो कुछ हो बाब्य कलेषरमें थोड़ी सी विभिन्नता हो जाने पर भी पुस्तकका आन्तरिक स्वरूप एक ही प्रकारका है जिस पर बस्तुआही पाठक संतोष कर लेंगे।

प्रस्तुत पुस्तकमें आर्थिक सहायता नीत व्यक्तिभाकी ओर से प्राप्त है। जिसमें मुख्य भाग बड़ोदावाले शाह चुनीलाल नगोनमदासका है, प्रांतीजवाले शेठ मगनलाल करमचंद और भावनगरवाले शेठ दीपचंद गांडाभाइकी धर्मपन्नी बाड़ मोर्तावाइकी भी आर्थिक मददका इसमें हीम्मा है अतएव उक्त नीतों महानभाव धन्यवादक भागी हैं।

अन्तमें विज्ञारशील पाटकोंसे हम इतना ही निवेदन करते हैं कि वे इस पुस्तकमें जो कुछ चुटी देखें वह हमें सचित करें।

भावनगर,

निवेदक

वि. न. १०३८

मुख्यलाल मंषद्जी,

फाल्गुन चतुर्दश १३ रवि.



## प्रस्तावना.

प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति अपरिमित शक्तियोंके तेजका पुज्ज है, जैसा कि सूर्य । अत एव राष्ट्र तो मानों अनेक द्वयोंका मण्डल है । फिर भी जब कोइ व्यक्ति या राष्ट्र असफलता या नैराश्यके भँवरमें पड़ता है तब यह प्रश्न होना सहज है कि इसका कारण क्या है ? । बहुत विचार कर देखनेसे मालूम पड़ता है कि असफलता व नैराश्यका कारण योगका (स्थिरताका) अभाव है, क्योंकि योग न होनेसे बुद्धि संदेह-शील बनी रहती है, और इससे प्रयत्नकी गति अनिश्चित हो जानेके कारण शक्तियां इधर उधर टकराकर आदमीको बरबाद कर देती हैं । इस कारण सब शक्तियोंको एक केन्द्रगामी बनाने तथा साध्यतक पहुंचानेके लिये अनिवार्यरूपसे सभीको योगकी जरूरत है । यही कारण है कि प्रस्तुत ×व्याख्यानमालामें योगका विषय रखा गया है ।

इस विषयकी शास्त्रीय मीमांसा करनेका उद्देश यह है कि हमें अपने पूर्वजोंकी तथा अपनी सभ्यताकी प्रकृति ठीक मालूम हो, और तद्वारा आर्यसंस्कृतिके एक अंशका थोड़ा, पर निश्चित रहस्य विदित हो ।

---

× गृजरात पुरातत्त्व मंदिरकी ओरसे होनेवाली आर्यविद्या-व्याख्यानमालामें यह व्याख्यान पढ़ा गया था ।

[ २ ]

## योगदर्शन.

—→॥०॥←—

योगदर्शन यह सामासिक शब्द है । इसमें योग और दर्शन ये दो शब्द मौलिक हैं ।

**योग शब्दका अर्थ**—योग शब्द युज् धातु और घन् प्रत्ययसे मिल द्वारा है । युज् धातु दो हैं । एकका अर्थ है जोड़ना और दूसरेका अर्थ है समाधि<sup>१</sup>—मनः स्थिरता । सामान्य रीतिसे योगका अर्थ संबन्ध करना तथा मानसिक स्थिरता करना इतना ही है, परंतु प्रसंग व प्रकरण के अनु-सार उसके अनेक अर्थ हो जानेसे वह बहुरूपी बन जाता है । इसी बहुरूपिताके कारण लोकमान्यको अपने गीतारहस्यमें गीताका तात्पर्य दिखानेके लिये योगशब्दार्थनिर्णयकी विस्तृत भूमिका रचनी पड़ी है<sup>२</sup> । परंतु योगदर्शनमें योग शब्दका अर्थ क्या है यह बतलानेके लिये उतनी गहराइमें उतरनेकी कोइ आवश्यकता नहीं है, क्यों कि योगदर्शनविद्यक सभी ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं योग शब्द आया है वहाँ उपका एक ही अर्थ है, और उस अर्थका सप्तशीकरण उम उस ग्रन्थमें

१ युजं वी योगे गण ७ हेमचंद्र धातुपाठ.

२ युजिंच समाधौ गण ४ " " "

३ देखो पृष्ठ २५ से ६०

ग्रन्थकारने स्वयं ही कर दिया है। भगवान् पतंजलिने अपने योगसूत्रमें<sup>१</sup> चित्तवृत्ति निरोधको ही योग कहा है, और उस ग्रन्थमें सर्वत्र योग शब्दका वही एक मात्र अर्थ विवक्षित है। श्रीमान् हरिभद्र सुरिने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थोंमें मोक्ष प्राप्त कराने वाले धर्मव्यापारको ही योग कहा है। और उनके उक्त सभी ग्रन्थोंमें योग शब्दका वही एक मात्र अर्थ विवक्षित है। चित्तवृत्तिनिरोध और मोक्षप्रापक धर्मव्यापार इन दो वाक्योंके अर्थमें स्थूल दृष्टिसे देखने पर बड़ी भिन्नता मालूम होती है, पर स्फूर्तम दृष्टिसे देखने पर उनके अर्थकी अभिन्नता स्पष्ट मालूम हो जाती है, क्यों कि 'चित्तवृत्तिनिरोध' इस शब्दसे वही क्रिया या व्यापार विवक्षित है जो मोक्षके लिये अनुकूल हो और जिससे चित्तकी संसाराभिमुख वृत्तियां रुक जाती हों। 'मोक्षप्रापक धर्मव्यापार' इस शब्दसे भी वही क्रिया विवक्षित है। अत एव प्रस्तुत विषयमें योग शब्दका अर्थ स्वाभाविक समस्त आत्मशक्तियोंका पूर्ण विकास करानेवाली

१ पा. १ सू. २—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

२ योगविन्दु श्लोक ३१—

अध्यात्मं भावनाऽऽध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।

मोक्षेण योजनायोग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥

योगविशिका गाथा ॥१॥

क्रिया अर्थात् आत्मोन्मुख चेष्टा इतना ही समजना चाहीये। योगविषयक वैदिक, जैन और बौद्ध ग्रन्थोंमें योग, ध्यान, समाधि ये शब्द वहुधा समानार्थक देखे जाते हैं।

**दर्शन शब्दका अर्थ—**—नेत्रजन्यज्ञान, निर्विकल्प (निराकार) बोधि, श्रद्धा, मैत आदि अनेक अर्थ दर्शन शब्दके देखे जाते हैं। पर प्रस्तुत विषयमें दर्शन शब्दका अर्थ मत यह एक ही विवक्षित है।

**योगके आविष्कारका श्रेय—**—जितने देश और जितनी जातियोंके आध्यात्मिक महान् पुरुषोंकी जीवनकथा तथा उनका साहित्य उपलब्ध है उसको देखनेवाला कोइ भी यह नहीं कह सकता है कि आध्यात्मिक विकास अमुक देश और अमुक जातिकी ही वर्षाती है, क्यों कि सभी देश और सभी जातियोंमें न्यूनाधिक रूपमें आध्यात्मिक विकास-वाले महात्माओंके पाये जानेके प्रमाण मिलते हैं। योगका

१ लोर्ड एवेररीने जो शिक्षाकी पूर्ण व्याख्या की है वह इसी प्रकारकी है:—“ Education is the harmonious development of all our faculties.”

२ दृश्य प्रेक्षणे—गण १ हेमचन्द्र धातुपाठ.

३ तत्त्वार्थ अध्याय २ सूत्र ८—श्लोक वार्तिक.

४ ” ” १ ” २

५ षड्दर्शन समुच्चय—श्लोक २—“दर्शनानि षष्ठेवात्र” इत्यादि.

६ उदाहरणार्थ जरथोस्त, इसु, महस्मद आदि.

संबन्ध आध्यात्मिक विकास से है। अत एव यह स्पष्ट है कि योगका अस्तित्व सभी देश और सभी जातियोंमें रहा है। तथापि कोइ भी विचारशील मनुष्य इस बातका इनकार नहीं कर सकता है कि योगके आविष्कारका या योगको पराकाष्ठा तक पहुँचानेका श्रेय भारतवर्ष और आर्यजातिको ही है। इसके सबूतमें मुख्यतया तीन बातें पेश की जा सकती हैं। १ योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि आध्यात्मिक महापुरुषोंकी बहुलता; २ साहित्यके आदर्शकी एकरूपता; ३ लोकरुचि।

१ योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि आध्यात्मिक महापुरुषोंकी बहुलता—पहिलेसे आज तक भारतवर्षमें आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी संख्या इतनी बड़ी रही है कि उसके सामने अन्य सब देश और जातियोंके आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी कुल संख्या इतनी अल्प जान पड़ती है जितनी कि गंगाके सामने एक छोटीसी नदी।

२ साहित्यके आदर्शकी एकरूपता—तत्त्व-ज्ञान, आचार, इतिहास, काव्य, नाटक आदि साहित्यका कोइ भी भाग लीजिये उसका अन्तिम आदर्श बहुधा मोद्द ही होगा। प्राकृतिक दृश्य और कर्मकाण्डके वर्णनने वेदका बहुत बड़ा भाग रोका है सही, पर इसमें संदेह नहीं कि वह

वर्णन वेदका शरीर मात्र है । उसकी आत्मा कुछ और ही है—वह है परमात्मचित्तन् या आध्यात्मिक भावोंका आविष्करण । उपनिषदोंका प्रासाद तो ब्रह्मचिन्तनकी बुन्याद पर ही खड़ा है । प्रमाणविषयक, प्रमेयविषयक कोइ भी तत्त्वज्ञान संबन्धी सूत्रग्रन्थ हो उसमें भी तत्त्वज्ञानके साध्यरूपसे मोक्षका ही वर्णन मिलेगा । आचारविषयक सूत्र स्मृति आदि सभी ग्रन्थोंमें आचारपालनका मुख्य उद्देश मोक्ष ही

१ वैशेषिकदर्शन अ० १ सू० ४—

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां  
पदार्थानां ‘ साध्यर्थ्यैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ’ ॥

न्यायदर्शन अ० १ सू० १—

प्रमाणप्रमेगसंशयप्रयोजनहप्रान्तसिद्धान्ताव्यवर्तकनिर्णयवादजल्पवितरण्डोहत्वाभासच्छलजातिनिप्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥

सांख्यदर्शन अ० १—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

वेदान्तदर्शन अ० ४ पा० ४ सू० २२—

अनावृतिः शब्दादनावृतिः शब्दात् ॥

जैनदर्शन तत्त्वार्थ अ० १ सू० १—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राग्नि मोक्षमार्गः ॥

माना गया है। रामायण, महाभारत आदि के मुख्य पात्रों की महिमा सिर्फ़ इस लिये नहीं कि वे एक बड़े राज्य के स्वामी थे, पर वह इस लिये है कि अंत में वे संन्यास या तपस्या के द्वारा मोक्ष के अनुष्टान में ही लग जाते हैं। रामचन्द्रजी प्रथम ही अवस्था में वशिष्ठ से योग और मोक्ष की शिक्षा पा लेते हैं। युधिष्ठिर भी युद्ध रस लेकर बाण-शश्यापर सोये हुवे भीष्म पिता महसे शान्तिका ही पाठ पढ़ते हैं। गीता तो रणांगण में भी मोक्ष के एकतम साधन योग का ही उपदेश देती है। कालिदास जैसे शृंगार प्रिय कहलाने वाले कवि भी अपने मुख्य पात्रों की महत्ता मोक्ष की ओर भूक्तने में ही देखते हैं। जैन आगम और वौद्ध पिटक तो निवृत्तिप्रधान होने से

१ याह्वलक्यस्मृति अ० ३ यतिर्धमनिरूपणम्;

मनुस्मृति अ० १२ शांक ८३

२ देखो योगवाचिष्ठ.

३ देखो महाभारत-शान्तिपर्व.

४ कुमारसंभव-सर्ग ३ तथा ५ तपस्या वर्णनम्.  
शाकुन्तल नाटक अंक ४ करणोक्ति,

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी,

दौध्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।

भर्त्रा तदर्पितकुदुम्बभरेण सार्ध,

शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥

[ = ]

मुख्यतया मोक्षके सिवाय अन्य विषयोंका वर्णन करनेमें  
बहुत ही मंकुचाते हैं। शब्दशास्त्रमें भी शब्दशुद्धिको तत्त्व-  
ज्ञानका द्वार मान कर उसका अन्तिम ध्येय परम श्रेय ही  
माना है। विशेष क्या ? कामशास्त्र तकका भी आखिरी  
उद्देश मोक्ष है। इस प्रकार भारतवर्षीय साहित्यका कोइ  
भी स्रोत देखिये, उसकी गति समुद्र जैसे अपरिमेय एक  
चतुर्थ पुरुषार्थकी ओर ही होगी।

शौश्वेऽभ्यस्तविद्यानाम् यौवने विष्पैषिणाम् ।  
वार्ष्णेये मुनियुत्तीनाम् योगेनान्ते ततुत्यजाम् ॥८॥ सर्ग १  
अथ म विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवं,  
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने मितातपवारणम् ।  
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तथा सह शिश्रिये,  
गलितवयसामिच्चाकृणामिदं हि कुलव्रतम् ॥७०॥ , , ३  
रघुवंश.

१ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।  
शब्दब्रह्मग्नि निष्ठातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥  
व्याकरणात्पदसिद्धिः पदमिद्वेर्थनिर्णयो भवति ।  
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥  
श्रीहैमशब्दानुशासनम् अ० ? पा० १ सू० २ लघुन्यास.  
२ “ स्थाविरे धर्म मोक्षं च ” कामसूत्र अ० २ पृ० ११

Bombay Edition.

**३ लोकरुचि**—आध्यात्मिक विषयकी चर्चावाला और खासकर योगविषयक कोइ भी ग्रन्थ किसीने भी लिखा कि लोगोंने उसे अपनाया। कंगाल और दीन हीन अवस्थामें भी भारतवर्षीय लोगोंकी उक्त अभिरुचि यह सूचित करती है कि योगका सम्बन्ध उनके देश व उनकी जातिमें पहलेसे ही चला आता है। इसी कारणसे भारतवर्षकी सभ्यता अरण्यमें उत्पन्न हुइ कही जाती है<sup>१</sup>। इस पैतृक स्वभावके कारण जब कभी भारतीय लोग तीर्थयात्रा या सफरके लिये पहाड़ों, जंगलों और अन्य तीर्थस्थानोंमें जाते हैं तब वे डेरातबु डालनेसे पहले ही योगियोंको, उनके मठोंको और उनके चिह्नतक्को भी ढुंढा करते हैं। योगकी श्रद्धाका उद्रेक यहां तक देखा जाता है कि किसी नंगे बावेको गांजिकी चिलम फूंकते या जटा बढ़ाते देखा कि उसके मुँहके धुएमें या उसकी जटा व भस्मलेपमें योगका गन्ध आने लगता है। भारतवर्षके पहाड़, जंगल और तीर्थस्थान भी बिलकुल योगिशून्य मिलना दूःसंभव है। ऐसी स्थिति अन्य देश और अन्य जातिमें दुर्लभ है। इससे यह अनुमान करना सहज है कि योगको आविष्कृत करनेका तथा परा-

---

१ देखो विवर टागोर कृत “साधना” पृष्ठ ४.  
“Thus in India it was in the forests that our civilisation had its birth.....etc.”

काष्ठा तक पहुँचानेका श्रेय बहुधा भारतवर्षको और आर्य-जातिको ही है। इस बातकी पुष्टि मेत्रमूलर जैसे विदेशीय और भिन्न संस्कारी विद्वान्‌के कथनसे भी अच्छी तरह होती है<sup>१</sup>।

**आर्यसंस्कृतिकी जड़ और आर्यजातिका लक्षण**—उपरके कथनसे आर्यसंस्कृतिका मूल आधार क्या है यह स्पष्ट मालूम हो जाता है। शाथत जीवनकी उपादेयता ही आर्यसंस्कृतिकी भित्ति है। इसी पर आर्यसंस्कृतिके चित्रोंका चित्रण किया गया है। वर्णविभाग जैसा सामाजिक संगठन और आश्रमव्यवस्था जैसा वैयक्तिक जीवनविभाग उस चित्रणका अनुपम उदाहरण है। विद्या, रक्षण, विनियम और सेवा ये चार जो वर्णविभागके उद्देश्य हैं। उनके प्रवाह गार्हस्थ्य जीवनरूप मैदानमें अलग अलग बह कर भी बानप्रस्थके मुहानेमें मिलकर अंतमें संन्यासाश्रमके अपरिमेय समुद्रमें एकरूप हो जाते हैं। सारांश यह है कि सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी संस्कृतियोंका निर्माण, स्थूलजीवनकी परिणामविरसता और आ-

१ This concentration of thought (एकाग्रता) or one-pointedness as the Hindus called it, is something to us almost unknown. इत्यादि देवो पृ २३-बोल्युम १—सेक्रेड बुक्स ओफ धि ईस्ट मेत्रमूलर—प्रस्तावना.

ध्यात्मिक जीवनकी परिणाम सुन्दरता उपर ही किया गया है। अत एव जो विदेशीय विद्वान् आर्यजातिका लक्षण स्थूलशरीर, उसके डीलडोल, व्यापार-व्यवसाय, भाषा, आदिमें देखते हैं वे एकदेशीय मात्र हैं। खेतीबारी, जहाज-खेना, पशुओंको चराना आदि जो जो अर्थ आर्यशब्दसे निकाले गये हैं<sup>१</sup> वे आर्यजातिके असाधारण लक्षण नहीं हैं। आर्यजातिका असाधारण लक्षण परलोकमात्रकी कल्पना भी नहीं है क्यों कि उसकी इष्टिमें वह लोक भी त्याजेय है। उसका सच्चा और अन्तरंग लक्षण स्थूल जगत्के उसपार वर्तमान परमात्मतत्त्वकी एकाग्रबुद्धिसे उपासना करना यही<sup>२</sup> है। इस सर्वव्यापक उद्देश्यके कारण आर्यजाति अपनेको अन्य सब जातियोंसे श्रेष्ठ समझती आइ है।

**ज्ञान और योगका संबन्ध तथा योगका दरजा—**व्यवहार हो या परमार्थ, किसी भी विषयका ज्ञान तभी परिपक्व समझा जा सकता है जब कि ज्ञानानुसार आचरण किया जाय। असलमें यह आचरण ही योग है।

---

१ Biographies of Words & the Home of the Aryans by Max Muller page 50। २ ते तं भुत्तश्च स्वर्गलोकं, विशालं क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्मनुप्रपत्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ गीता अ० ६ श्लोक २१ ॥ ३ देखें Apte's Sanskrit to English Dictionary.

अत एव ज्ञान योगका कारण है । परन्तु योगके पूर्ववर्ति जो ज्ञान होता है वह अस्पष्ट होता है । और योगके बाद होनेवाला अनुभवात्मक ज्ञान स्पष्ट तथा परिपक्ष होता है । इसीसे यह समझ लेना चाहिये कि स्पष्ट तथा परिपक्ष ज्ञानकी एक मात्र कुंजी योग ही है । आधिभौतिक या आध्यात्मिक कोइ भी योग हो, पर वह जिस देश या जिस जातिमें जितने प्रमाणमें पुष्ट पाया जाता है उस देश या उस जातिका विकास उतना ही आधिक प्रमाणमें होता है । सच्चा ज्ञानी वही है जो योगी है । जिसमें योग या एकाग्रता नहीं होती वह योगवाशिष्ठकी परिभाषामें ज्ञानबन्धु

१ इसी अभिप्रायसे गीता योगिको ज्ञानीसे आधिक कहती है.

गीता अ० ६. श्लोक ४६—

तपस्त्रिभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ! ॥

२ गीता अ० ५. श्लोक ५—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

३ योगवाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध सर्ग २१—

व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवन् ।

यतते न त्वनुष्टाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥

आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये ।

सन्तुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः ॥ इत्यादि.

है । योगके सिवाय किसी भी मनुष्यकी उत्क्रान्ति हो ही नहीं सकती, क्यों कि मानसिक चंचलताके कारण उसकी सब शक्तियां एक ओर न बह कर भिज भिज विषयोंमें टकराती हैं, और दूरी हो कर यों ही नष्ट हो जाती हैं । इसलिये क्या किसान, क्या कारीगर, क्या लेखक, क्या शोधक, क्या त्यागी सभीको अपनी नाना शक्तियोंको केन्द्रस्थ करेनेके लिय योग ही परम साधन है ।

### व्यावहारिक और पारमार्थिक योग—

योगका कलेवर एकाग्रता है, और उसकी आत्मा अहंत्व ममत्वका त्याग है । जिसमें सिर्फ एकाग्रताका ही संबन्ध हो वह व्यावहारिक योग, और जिसमें एकाग्रताके साथ साथ अहंत्व ममत्वके त्यागका भी संबन्ध हो वह पारमार्थिक योग है । यदि योगका उक्त आत्मा किसी भी प्रवृत्तिमें-चाहे वह दुनियाकी दृष्टिमें बाह्य ही क्यों न समझी जाती हो- वर्तमान हो तो उसे पारमार्थिक योग ही समझना चाहिये । इसके विपरीत स्थूलदृष्टिवाले जिस प्रवृत्तिको आध्यात्मिक समझते हों, उसमें भी यदि योगका उक्त आत्मा न हो तो उसे व्यवहारिक योग ही कहना चाहिये । यही बात गीताके साम्यगर्भित कर्मयोगमें कही गई है ।

१ अ० २ श्लोक ४८—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यत्त्वा धनञ्जय ! ।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

**योगकी दो धारायें—**व्यवहारमें किसी भी वस्तुको परिपूर्ण स्वरूपमें तैयार करनेके लिये पहले दो बातोंकी आवश्यकता होती है। जिनमें एक ज्ञान और दूसरी क्रिया है। चित्तेरेको चित्र तैयार करनेसे पहले उसके स्वरूपका, उसके साधनोंका और साधनोंके उपयोगका ज्ञान होता है, और फिर वह ज्ञान के अनुसार क्रिया भी करता है तभी वह चित्र तैयार कर पाता है। वैसे ही आध्यात्मिक व्यवहारमें भी मोक्षके जिज्ञासुके लिये बन्धमोक्ष, आत्मा और बन्धमोक्षके कारणोंका तथा उनके परिहार, उपादानका ज्ञान होना जरूरी है। एवं ज्ञानानुसार प्रवृत्ति भी आवश्यक है। इसी से संबंधमें यह कहा गया है कि “ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः”। योग क्रियामार्गका नाम है। इस मार्गमें प्रवृत्त होनेसे पहले अधिकारी, आत्मा आदि आध्यात्मिक विषयोंका आरंभिक ज्ञान शास्त्रसे, मत्संगसे, या स्वयं प्रतिभा द्वारा कर लेता है। यह तत्त्वविषयक प्राथमिक ज्ञान प्रवर्तक ज्ञान कहलाता है। प्रवर्तक ज्ञान प्राथमिक दशाका ज्ञान होनेसे सबको एकाकार और एकमा नहीं हो सकता। इसीसे योगमार्गमें तथा उसके परिणामस्वरूप मोक्षस्वरूपमें तात्त्विक भिन्नता न होने पर भी योगमार्गके प्रवर्तक प्राथमिक ज्ञानमें कुछ भिन्नता अनिवार्य है। इस

प्रवर्तक ज्ञानका मुख्य विषय आत्माका अस्तित्व है। आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व माननेवालोंमें भी मुख्य दो मत हैं—पहला एकात्मवादी और दूसरा नानात्मवादी। नानात्मवादमें भी आत्माकी व्यापकता, अव्यापकता, परिणामिता, अंपरिणामिता माननेवाले अनेक पक्ष हैं। पर इन वादोंको एकतरफ रख कर मुख्य जो आत्माकी एकता और अनेकताके दो वाद हैं उनके आधार पर योगमार्गकी दो धारायें हो गई हैं। अत एव योगविषयक साहित्य भी दो मार्गोंमें विभक्त हो जाता है। कुछ उपनिषदें,<sup>३</sup> योगवाशिष्ठ, हठ-योगप्रदीपिका आदि ग्रन्थ एकात्मवादको लक्ष्यमें रख कर रचे गये हैं। महाभारतगत योग प्रकरण, योगसूत्र तथा जैन और बौद्ध योगग्रन्थ नानात्मवादके आधार पर रचे गये हैं।

**योग और उसके साहित्यके विकासका दिग्दर्शन—**आर्यसाहित्यका भागडागार मुख्यतया तीन भागोंमें विभक्त है—वैदिक, जैन और बौद्ध। वैदिक साहित्यका प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य है। तथापि उसमें आध्या-

---

३ ब्रह्मविद्या, चूरिका, चूलिका, नादविन्दु, ब्रह्मविन्दु, अमृतविन्दु, ध्यानविन्दु, तेजोविन्दु, शिखा, योगतत्त्व, हंस.

तिक भाव अर्थात् परमात्मचिन्तनका अभाव नहीं है<sup>१</sup>। परमात्मचिन्तनका भाग उसमें थोड़ा है सही, पर वह इतना अधिक स्पष्ट, सुन्दर और भावपूर्ण है कि उसको ध्यानपूर्वक देखनेसे यह साफ मालूम पड़ जाता है कि तत्कालीन लोगोंकी दृष्टि केवल बाह्य न थी। इसके सिवा उसमें

१ देखो “ भागवताचा उपसंहार ” पृष्ठ २५२.

२ उदाहरणार्थ कुछ सूक्त दिये जाते हैं:—

ऋग्वेद मं. १ सू. १६४-४६—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुवर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यमिं यमं मातरिश्यानमाहुः ॥

भाषांतरः—लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि कहते हैं। वह सुंदर पांखवाला दिव्य पक्षी है। एक ही सत्का विद्वान् लोग अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं। कोइ उसे आग्नि, यम या वायु भी कहते हैं।

ऋग्वेद मण्ड. ६ सू. ८

वि मे कर्णो पतयतो वि चञ्जुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।

वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद् वद्यामि किमु नु मनिष्ये ॥६॥

विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने ! तमसि तस्थिवांसम् ।

वैश्वानरोऽवतृत्ये नोऽपल्योऽवतृत्ये नः ॥ ७ ॥

भाषांतरः—मेरे कान विविध प्रकारकी प्रवृत्ति करते हैं।

मेरे नेत्र, मेरे हृदयमें स्थित ज्योति और मेरा दूरवर्ति मन (भी)

ज्ञान, श्रद्धा, उदारता, ब्रह्मचर्य आदि आध्यात्मिक उच्च मानसिक भावोंके चित्र भी बड़ी सूखीवाले मिलते हैं। इससे

विविध प्रवृत्ति कर रहा है। मैं क्या कहूँ और क्या विचार कहूँ ? । ६ । अंधकारस्थित हे अग्नि ! तुजको अंधकारसे भय पानेवाले देव नमस्कार करते हैं। वैश्वानर हमारा रक्षण करे। अर्मर्य हमारा रक्षण करे । ७ ।

पुरुषसूक्त मण्डल १० सू. ६० ऋग्वेदः—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमि विश्वतो वृत्त्वात्यतिष्ठदशःङुलम् ॥ १ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्गूतं यथा भव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो यद्ग्रेनातिरोहति ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः ।

पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

भाषांतरः—( जो ) हजार सिरवाला, हजार आंखवाला, हजार पौँछवाला पुरुष ( है ) वह भूमिको चारों ओरसे घेर कर ( किर भी ) दस अंगुल बढ़ कर रहा है । १ । पुरुष ही यह सब कुछ है—जो भूत और जो भावि । ( वह ) अमृतत्वका ईश अन्नसे बढ़ता है । २ । इतनी इसकी महिमा—इससे भी

---

१ मं. १० सू. ७१ ऋग्वेद । २ मं. १० सू. १५१ ऋग्वेद ।  
३ मं. १० सू. ११७ ऋग्वेद । ४ मं. १० सू. १० ऋग्वेद ।

[ १८ ]

यह अनुमान करना सहज है कि उस जमाने के लोगों का  
भुकाव आध्यात्मिक अवश्य था। यद्यपि ऋग्वेदमें योगशब्द  
वह पुरुष अधिकतर है। सारे भूत उसके एक पाद मात्र हैं—  
उसके अमर तीन पाद स्वर्गमें हैं। ३।

क सूक्त मं. १० सू. १२१ ऋग्वेदः—

हिरण्यगर्भः समवर्तताम् भूतस्य जातः पतिरेक आसीन् ।  
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥  
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिष्यं यस्य देवाः ।  
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

भाषांतरः—पहले हिरण्यगर्भ था। वही एक भूत मात्र का  
पति बना था। उसने पृथिवी और इस आकाश को धारण किया।  
किस देवको हम हविसे पूजें ? । १ । जो आत्मा और बलको  
देनेवाला है। जिसका विश्व है। जिसके शासनकी देव उपासना  
करते हैं। अमृत और मृत्यु जिसकी छाया है। किस देवको  
हम हविसे पूजें ? । २ ।

ऋग्वेद मं. १०—१२६—६ तथा ७—

को अद्वा वेद क इह प्रवाचन् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः ।  
अवाग्वेदा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ वभूव ॥  
इयं विसृष्टिर्यत आ वभूव यदि वा दधे यदि वा न ।  
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

अनेक स्थानोंमें आया है, पर सर्वत्र उसका अर्थ प्रायः जोड़ना इतना ही है, ध्यान या समाधि अर्थ नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि पिछले योग विषयक साहित्यमें ध्यान, वैराग्य, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि जो योगप्रक्रिया प्रसिद्ध शब्द पाये जाते हैं वे ऋग्वेदमें विलक्षण नहीं हैं। ऐसा होनेका कारण जो कुछ हो, पर यह निश्चित है कि तत्कालीन लोगोंमें ध्यानकी भी रुचि थी। ऋग्वेदका ब्रह्मस्फुरण जैसे जैसे विकसित होता गया और उपनिषदके जमानेमें उसने जैसे ही विस्तृत रूप धारण किया वैसे वैसे ध्यानमार्ग भी अधिक पुष्ट और साङ्घोपाङ्घ होता चला। यही कारण है कि प्राचीन उपनिषदोंमें भी समाधि अर्थमें योग, ध्यान

भाषांतरः—कौन जानता है—कौन कह सकता है कि यह विविध मृष्टि कहाँसे उत्पन्न हुइ ? । देव इसके विविध सर्जनके बाद ( हुवे ) हैं । कौन जान सकता है कि यह कहाँसे आई ? यह विविध मृष्टि कहाँसे आई और स्थितिमें है वा नहीं है ? यह बात परम व्योममें जो इसका अध्यक्ष है वही जाने—कदाचित् वह भी न जानता हो ।

१ गंडल १ सूक्त ३४ मंत्र ६ । मं. १० सू. १६६ मं. ५ ।  
मं. १ सू. १८ मं. ७ । मं. १. सू. ६ मं. ३ । मं. २ सू. ८  
मं. १ । मं. ९ सू. ५८ मं. ३ ।

आदि शब्द पाये जाते हैं । श्रेताश्वतर उपनिषदमें तो स्पष्ट रूपसे योग तथा योगोचित स्थान, प्रत्याहार, धारणा आदि योगाङ्गोंका वर्णन है । मध्यकालीन और अर्वाचीन अनेक उपनिषदें तो सिर्फ योगविषयक ही हैं, जिनमें योगशास्त्रकी तरह सांगोपांग योगप्रक्रियाका वर्णन है। अथवा यह कहना

१ ( क ) तैत्तिरिय २-४ । कठ २-६-११ । श्रेताश्वतर २-११, ६-३ । ( ख ) छान्दोर्य ७-६-१, ७-६-२, ७-७-१, ७-२६-१ । श्रेताश्वतर १-१४ । कौशीतकि ३-२, ३-३, ३-४, ३-६ ।

### २ श्रेताश्वतरोपनिषद् अध्याय २—

त्रिहन्तं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुद्ध्य ।  
ब्रह्मोङ्गेन प्रतरेत विद्वान्सोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥  
प्राणान्प्रपीड्येह सयुक्तचेष्टः क्षीणं प्राणे नासिकयोङ्गसीत ।  
दुष्टाश्वयुक्तमित्र वाहमेन विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥  
समे शुचौ शर्करावहिवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।  
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

इत्यादि.

३ ब्रह्मविद्योपनिषद्, लुरिकोपनिषद्, चूलिकोपनिषद्, नाद-बिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृतबिन्दु, ध्यानबिन्दु, तेजोबिन्दु, योग-शिखा, योगतत्त्व, हंस । देखो युसेनकृत—“Philosophy of the Upanishad's”

चाहिये कि ऋग्वेदमें जो परमात्मचिन्तन अंकुरायमाण था वही उपनिषदोंमें पद्धतित पुष्टि हो कर नाना शाखा प्रशाखाओंके साथ फल अवस्थाको प्राप्त हुवा । इससे उपनिषद-कालमें योगमार्गका पुष्टरूपमें पाया जाना स्वाभाविक ही है ।

उपनिषदोंमें जगत्, जीव और परमात्मसम्बन्धी जो तात्त्विक विचार है, उसको भिन्न भिन्न ऋषियोंने अपनी दृष्टिसे द्वयोंमें ग्राहित किया, और इस तरह उस विचारको दर्शनका रूप मिला । सभी दर्शनकारोंका आखिरी उद्देश मोक्ष \*ही रहा है, इससे उन्होंने अपनी अपनी दृष्टिसे तत्त्व-

\* प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णय-वादजल्पवितरणडाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः । गौ० सू० १-१-१ ॥ धर्मविशेषप्रसूताद्वद्व्ययगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्य-भ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ वै० सू० १-१-४ ॥ अथ त्रिविध-दुःखात्मन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः सां० द० १-१ । पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशार्कीर्ति । यो० सू० ४-३३ ॥ अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दान् ४-४-२२ ब्र. सू. ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । तत्त्वार्थ १-१ जैन० द० । बौद्ध दर्शनका तीसरा निरोध नामक आर्यसत्य ही मोक्ष है ।

विचार करनेके बाद भी संसारसे छुट कर मोक्ष पानेके साधनोंका निर्देश किया है। तत्त्वविचारणामें मतभेद हो सकता है, पर आचरण यानी चारित्र एक ऐसी वस्तु है जिसमें सभी विचारशील एकमत हो जाते हैं। विना चारित्रका तत्त्वज्ञान कोरी बातें हैं। चारित्र यह योगका किंवा योगांगोंका संक्षिप्त नाम है। अत एव सभी दर्शनकारोंने अपने अपने सूत्रग्रन्थोंमें साधन रूपसे योगकी उपयोगिता अवश्य वर्तलाइ है। यहां तक की—न्यायदर्शन जिसमें प्रमाण पद्धतिका ही विचार भूख्य है उसमें भी महर्षि गौतमने योगको स्थान दिया है<sup>१</sup>। महर्षि कणादने तो अपने वैशेषिक दर्शनमें यम, नियम, शौच आदि योगांगोंका भी महत्त्व गाया है<sup>२</sup>। सांख्यसूत्रमें योगप्रक्रियाके वर्णनवाले कह सूत्र है<sup>३</sup>। ब्रह्म-

१ समाधिविशेषाभ्यामात् ४-२-३८ । अरण्यगुहापुलिनादिपु योगाभ्यामोपदेशः ४-२-४२ । तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युतायैः ४-२-४६ ॥

२ अभिषेचनोपत्रासत्रह्वर्यगुरुकुलवासत्रानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्तण-दिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्रादप्राय । ६-२-२ । अयतस्य शुचिभोजनादस्युदयो न विद्यते, नियमाभावाद्, विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य । ६-२-८ ।

३ रागोपहतिध्यानम् ३-३० । वृत्तनिरोबान् तत्सिद्धिः

सूत्रमें महर्षि बादरायणने तो तीसरे अध्यायका नाम ही साधन अध्याय रखा है, और उसमें आसन ध्यान आदि योगांगोंका वर्णन किया है<sup>१</sup>। योगदर्शन तो मुख्यतया योगविचारका ही ग्रन्थ ठहरा, अत एव उसमें सांगोपांग योगप्रक्रियाकी मीमांसाका पाया जाना सहज ही है। योगके स्वरूपके सम्बन्धमें मतभेद न होनेके कारण और उसके प्रतिपादनका उच्चरदायित्व खासकर योगदर्शनके उपर होनेके कारण अन्य दर्शनकारोंने अपने अपने सूत्र ग्रन्थोंमें थोड़ासा योगविचार करके विशेष जानकारीके लिये जिज्ञा-सुओंको योगदर्शन देखनेकी सूचना दे दी है। पूर्वमीमांसामें महर्षि जैमिनिने योगका निर्देश तक नहि किया है सो ठीक ही है, क्योंकि उसमें सकाम कर्मकाएड अर्थात् धूम-मार्गकी ही मीमांसा है। कर्मकाएडकी पहुंच स्वर्गतक

३-३१। धारणमनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ३-३२। निशेध-  
शब्दर्दिविधारणाभ्याम् ३-३३। स्थिरसुव्रमासनम् ३-३४।

१ ग्रासीनः भंभवान् ४-१-७। ध्यानाच्च ४-१-८। अच-  
लत्वं चापेच्य ४-१-९। स्मरन्ति च ४-१-१०।  
यत्रैकाग्रता तत्राविशेषान् ४-१-११।

२ योगशास्त्राचाच्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः । न्यायदर्शन  
४-२-४३ भाष्य ।

ही है, मोक्ष उसका साध्य नहीं। और योगका उपयोग तो मोक्षके लिये ही होता है।

जो योग उपनिषदोंमें सूचित और सूत्रोंमें सूत्रित है, उसीकी महिमा गीतामें अनेक रूपसे गाइ गइ है। उसमें योगकी तान कभी कर्मके साथ, कभी भक्तिके साथ और कभी ज्ञानके साथ सुनाइ देती है<sup>१</sup>। उसके छहे और तेरहवें अध्यायमें तो योगके मौलिक सब सिद्धान्त और योगकी सारी प्रक्रिया आ जाती है<sup>२</sup>। कृष्णके द्वारा अर्जुनको

१ गीताके अठारह अध्यायोंमें पहले छह अध्याय कर्मयोग प्रधान, बिचके छह अध्याय भक्तियोग प्रधान और अंतिम छह अध्याय ज्ञानयोग प्रधान हैं।

२ योगी युजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यत्चित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रुतं नातिनीचं चैलाजिनकुरोत्तरम् ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत्चित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युज्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

संप्रेद्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मञ्जितो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥ अ० ६

गीताके रूपमें योगशिक्षा दिला कर ही महाभारत सन्तुष्ट नहीं हुआ । उसके अथक स्वरको देखते हुए कहना पड़ता है कि ऐसा होना संभव भी न था । अत एव शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें योगविषयक अनेक सर्ग वर्तमान हैं, जिनमें योगकी अथेति प्रक्रियाका वर्णन पुनरुक्तिकी परवा न करके किया गया है । उसमें बाणशश्यापर लेटे हुए भीष्मसे बार बार पूछनेमें न तो युधिष्ठिरको ही कंटाला आता है, और न उस सुपात्र धार्मिक राजाको शिक्षा देनेमें भीष्मको ही थकावट मालूम होती है ।

योगवाशिष्ठका विस्तृत महल तो योगकी भूमिकापर खड़ा किया गया है । उसके छह प्रकरण मानों उसके सुदीर्घ कमरे हैं, जिनमें योगसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी विषय रोचकतापूर्वक वर्णन किये गये हैं । योगकी जो जो बातें योगदर्शनमें संक्षेपमें कही गई हैं, उन्हींका विविधरूपमें विस्तार करके ग्रन्थकारने योगवाशिष्ठका कलेवर बहुत बढ़ा दिया है, जिससे यही कहना पड़ता है कि योगवाशिष्ठ योगका ग्रन्थराज है ।

पुराणमें सिर्फ पुराणशिरोमणि भागवतको ही देखिये, उसमें योगका सुमधुर पद्योंमें पूरा वर्णन<sup>३</sup> है ।

१ शान्तिपर्व १९३, २१७, २४६, २५४ इत्यादि ।  
अनुशासनपर्व ३६, २४६ इत्यादि । २ वैराग्य, मुमुक्षुव्यवहार, उत्त्वत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण । ३ स्कन्ध ३ अध्याय २८ । स्कन्ध ११. अ० १५, १९, २० आदि ।

योगविषयक विविध साहित्यसे लोगोंकी रुचि इतनी परिमार्जित हो गई थी कि तान्त्रिक संप्रदायवालोंने भी तन्त्र-ग्रन्थोंमें योगको जगह दी, यहाँ तक कि योग तन्त्रका एक खासा अंग बन गया । अनेक तान्त्रिक ग्रन्थोंमें योगकी चर्चा है, पर उन सबमें महानिर्वाणतन्त्र, पट्टचक्रनिरूपण आदि मुख्य हैं ।

१ देखो महानिर्वाणतन्त्र ३ अध्याय । देखो षट्कक्षनिरूपण ।

ऐक्यं जीवात्मनोराहुयोगं योगविशारदाः ।

शिवात्मनोरभेदेत् प्रतिशर्ति परे विदुः ॥ पृष्ठ ८२

Tantrik Texts में छवा हुआ

समत्वभावनां नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।

समाधिमाहुर्मुनयः प्रोक्तमप्ताङ्गलक्षणम् ॥ पृ० ६१ ,,

यदत्र नात्र निर्भासः स्तिभितोदधिवत् स्मृतम् ।

स्वस्पृशून्यं यद् ध्यानं तत्समाधिर्विधीयते ॥ पृ० ६० ,,

श्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरते च सततं विद्युदाकाररूपं ।

तदन्तः शून्यं तत् सकलमुरुगणैः सेवितं चातिगुनम् ॥ पृ० ६० ,,

“आदारनिर्हारविहारयोगाः सुसंकृता धर्मविदा तु कार्यः”

पृ० ६१ ,,

धैर्ये चिन्तायाम् स्मृतो धातुश्रिन्ता तत्त्वेन निश्चलः ।

एनदू ध्यानमिह प्रोक्तं मगुणं निर्गुणं द्विधा ।

सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं तथा ॥ पृ० ३३ ,,

जब नदीमें बाढ़ आता है तब वह चारों ओरसे बहने लगती है। योगका यही हाल हुआ, और वह आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि बाह्य अंगोंमें प्रवाहित होने लगा। बाह्य अंगोंका भेद प्रभेद पूर्वक इतना अधिक वर्णन किया गया और उसपर इतना अधिक जोर दिया गया कि जिससे वह योगकी एक शाखा ही अलग बन गई, जो हठयोगके नामसे प्रसिद्ध है।

हठयोगके अनेक ग्रन्थोंमें हठयोगप्रदीपिका, शिव-संहिता, घेरण्डसंहिता, गोरक्षपद्धति, गोरक्षशतक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमें आसन, बन्ध, मुद्रा, पट्टकम्, कुंभक, रेचक, पूरक आदि बाह्य योगांगोंका पेट भर भरके वर्णन किया है, और घेरण्डने तो चौरासी आसनको चौरासी लाख तक पहुंचा दिया है।

उक्त हठयोगप्रधान ग्रन्थोंमें हठयोगप्रदीपिका ही मुख्य है, क्यों कि उसीका विषय अन्य ग्रन्थोंमें विस्तार रूपसे वर्णन किया गया है। योगविषयक साहित्यके जिज्ञासुओंको योगतारावली, विन्दुयोग, योगबीज और योगकल्पद्रुमका नाम भी भूलना न चाहिये। विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दीमें मैथिल परिषदत भवदेवद्वारा रचित योगनिबन्ध नामक हस्त-लिखित ग्रन्थ भी देखनेमें आया है, जिसमें विष्णुपुराण आदि अनेक ग्रन्थोंके हवाले दे कर योगसम्बन्धी प्रत्येक विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है।

संस्कृत भाषामें योगका वर्णन होनेसे सर्व साधारणकी जिज्ञासाको शान्त न देख कर लोकभाषाके योगियोंने भी अपनी अपनी जबानमें योगका अलाप करना शुरू कर दिया।

महाराष्ट्रीय भाषामें गीताकी ज्ञानदेवकृत ज्ञानेश्वरी टीका प्रसिद्ध है, जिसके छड़े अध्यायका भाग बड़ा ही हृदयहारी है। निःसन्देह ज्ञानेश्वरी द्वारा ज्ञानदेवने अपने अनुभव और वाणीको अवन्ध्य कर दिया है। सुहीरोबा अंविये रचित नाथसम्प्रदायानुसारी सिद्धान्तसंहिता भी योगके जिज्ञासुओंके लिये देखनेकी वस्तु है।

कवीरका वीजक ग्रन्थ योगसम्बन्धी भाषासाहित्यका एक सुन्दर मणका है।

अन्य योगी सन्तोंने भी भाषामें अपने अपने योगानुभवकी प्रसादी लोगोंको चखाई है, जिससे जनताका बहुत बड़ा भाग योगके नाम मात्रसे मुग्ध बन जाता है।

अत एव हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि प्रसिद्ध प्रत्येक प्रान्तीय भाषामें पातञ्जल योगशास्त्रका अनुवाद तथा विवेचन आदि अनेक छोटे बड़े ग्रन्थ बन गये हैं। अंग्रेजी आदि विदेशीय भाषामें भी योगशास्त्रपर अनुवाद आदि बहुत कुछ बन गया है, जिसमें वृडका भाष्यटीका सहित मूल पातञ्जल योगशास्त्रका अनुवाद ही विशिष्ट है।

१ प्रो० राजेन्द्रलाल मित्र, स्वामी विवेकानंद, श्रीयुन् रामप्रसाद आदि कृत

जैन सम्प्रदाय निवृत्ति-प्रधान है। उसके प्रवर्तक भगवान् महावीरने बारह सालसे अधिक समय तक मौन धारण करके सिर्फ आत्मचिन्तनद्वारा योगाभ्यासमें ही मुख्यतया जीवन विताया। उनके हजारों शिष्य तो ऐसे थे जिन्होंने घरवार छोड़ कर योगाभ्यासद्वारा साधुजीवन विताना ही पसंद किया था।

जैन सम्प्रदायके मौलिक ग्रन्थ आगम कहलाते हैं। उनमें साधुचर्याका जो वर्णन है, उसको देखनेसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पांच यम; तप, स्वाध्याय आदि नियम; इन्द्रिय-जय-रूप प्रत्याहार इत्यादि जो योगके खास अङ्ग हैं, उन्हींको साधुजीवनका एक मात्र प्राण माना है।

जैनशास्त्रमें योगपर यहां तक भार दिया गया है कि पहले तो वह मुमुक्षुओंके आत्मचिन्तनके सिवाय दूसरे कार्योंमें प्रवृत्ति करनेकी संभति ही नहीं देता, और अनिवार्य रूपसे प्रवृत्ति करनी आवश्यक हो तो वह निवृत्तिमय प्रवृत्ति करनेको कहता है। इसी निवृत्तिमय प्रवृत्तिका नाम उसमें अष्टप्रवचनमाता है। साधुजीवनकी दैनिक और रात्रिक

१ “ चउदसहि समणसाहस्रीहि छत्तीसाहि अज्जिआ-  
साहस्रीहि ” उववाइसूत्र ।

२ देखो आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक,  
मूलाचार, आदि । ३ देखो उत्तराध्ययन अ० २४ ।

चर्यामें तीसरे प्रहरके सिवाय अन्य तीनों प्रहरोंमें मुख्यतया स्वाध्याय और ध्यान करनेको ही कहा गया है<sup>१</sup>।

यह बात भूलनी न चाहिये कि जैन आगमोंमें योग-अर्थमें प्रधानतया ध्यानशब्द प्रयुक्त है। ध्यानके लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदिका विस्तृत वर्णन अनेक जैन आगमोंमें<sup>२</sup> है। आगमके बाद निर्युक्तिका<sup>३</sup> नंबर है। उसमें भी आगमगत ध्यानका ही स्पष्टीकरण है। वाचक उमास्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्रमें भी ध्यानका वर्णन है, पर उसमें

१ दिवपस्स चउरो भाए, कुज्ञा भिक्खु विश्वक्खणो ।

तथो उत्तरगुणे कुज्ञा, दिणभागेसु चउसु वि ॥ १९ ॥

पठमं पोरिसि सज्जायं, विइअं झाणं झिआयइ ।

तइआए गोश्चरकालं, पुणो चउत्थिए सज्जायं ॥ १२ ॥

रत्ति पि चउरो भाए भिक्खु कुज्ञा विश्वक्खणो ।

तओ उत्तरगुणे कुज्ञा राईभागेसु चउसु वि ॥ १७ ॥

पठमं पोरिसि सज्जायं विइअं झाणं झिआयइ ।

तइआए निदमोक्खं तु चउत्थिए भुजो वि सज्जायं ॥ १८ ॥

उत्तराध्ययन अ० २६ ।

२ देखो स्थानाङ्ग अ० ४ उदेश १। समवायाङ्ग स० ४।  
भगवती शतक-२५ उदेश ७। उत्तराध्ययन अ० ३०, श्लो० ३५।

३ देखो आवश्यकनिर्युक्ति कायोत्सर्ग अध्ययन गा. १४६२  
-१४८६। ४ देखो अ० ९ सू० २७ से आगे।

आगम और निर्युक्तिकी अपेक्षा कोई अधिक बात नहीं है। जिनभद्रगणी चमाश्रमणका ध्यानशतक आगमादि उक्त ग्रन्थोंमें वर्णित ध्यानका स्पष्टीकरण मात्र है, यहां तकके योगविषयक जैन विचारोंमें आगमोक्त वर्णनकी शैली ही प्रधान रही है। पर इस शैलीको श्रीमान् हरिभद्रसूरिने एकदम बदलकर तत्कालीन परिस्थिति व लोकरुचिके अनुसार नवीन परिभाषा दे कर और वर्णनशैली अपूर्वसी बनाकर जैन योग-साहित्यमें नया युग उपस्थित किया। इसके सबूतमें उनके बनाये हुए योगविन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविशिका, योगशतक और घोड़शक ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें उन्होंने सिर्फ जैन-मार्गानुसार योगका वर्णन करके ही संतोष नहीं माना है, किन्तु पातञ्जलयोगसूत्रमें वर्णित योगप्रक्रिया और उसकी सास परिभाषाओंके साथ जैन संकेतोंका मिलान भी किया है<sup>३</sup>। योगदृष्टिसमुच्चयमें

१ देखो हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति प्रतिक्रमणाध्ययन पृ० ५८ १

२ यह ग्रन्थ जैन ग्रन्थावलिमें उल्लिखित है पृ० ११३ ।

३ समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिर्धायते ।

सम्यक् प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्था ॥ ४१८ ॥

असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः ।

निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्त्वरूपानुवेधतः ॥ ४२० ॥ इत्यादि,

योगविन्दु ।

योगकी आठ दृष्टियोंका जो वर्णन है, वह सारे योगसाहित्यमें एक नवीन दिशा है।

श्रीमान् हरिभद्रसूरिके योगविषयक ग्रन्थ उनकी योगाभिरुचि और योगविषयक व्यापक बुद्धिके खासे नमूने हैं।

इसके बाद श्रीमान् हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्रका नंबर आता है। उसमें पातञ्जल-योगशास्त्र-निर्दिष्ट आठ योगांगोंके क्रमसे साधु और गृहस्थ जीवनकी आचार-प्रक्रियाका जैन शैलीके अनुसार वर्णन है, जिसमें आमन तथा प्राणायामसे संबन्ध रखनेवाली अनेक बातोंका विस्तृत स्वरूप है; जिसको देखनेसे यह जान पड़ता है कि तत्कालीन लोगोंमें हठयोग-प्रक्रियाका कितना अधिक प्रचार था। हेमचन्द्राचार्यने अपने योगशास्त्रमें हरिभद्रसूरिके योगविषयक ग्रन्थोंकी नवीन परिभाषा और रोचक शैलीका कहाँ भी उल्लेख नहीं किया है, पर शुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्णवगत पदस्थ, पिण्डस्थ,

---

१ मित्रा तारा बला दीपा स्थिरा कान्ता प्रभा परा ।

नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निवेदित ॥ १३ ॥

इन आठ दृष्टियोंका स्वरूप, दृष्टान्त आदि विषय, योग-जिज्ञासुओंके लिये देखने योग्य है। इसी विषयपर यशोविजय-जीने २१, २२, २३, २४ ये चार दात्रेशिकायें लिखी हैं। साथ ही उन्होंने संस्कृत न जाननेवालोंके हितार्थ आठ दृष्टियोंकी सज्जाय भी गुजराती भाषामें बनाई है।

रूपस्थ, और रूपातीत ध्यानका विस्तृत व स्पष्ट वर्णन किया है। अन्तमें उन्होंने स्वानुभवसे विक्रिति, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन ऐसे मनके चार भेदोंका वर्णन करके नवीनता लानेका भी खास कौशल दिखाया है। निस्सन्देह उनका योगशास्त्र जैनतत्त्वज्ञान और जैनआचारका एक पाठ्य ग्रन्थ है।

इसके बाद उपाध्याय-श्रीयशोविजयकृत योगग्रन्थोंपर नजर ठहरती है। उपाध्यायजीका शास्त्रज्ञान, तर्ककौशल और योगानुभव बहुत गम्भीर था। इससे उन्होंने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् तथा सटीक बत्तीस बत्तीसीयाँ योग संबन्धी विषयोंपर लिखी हैं, जिनमें जैन मन्त्रव्योंकी सूच्ना और रोचक मीमांसा करनेके उपरान्त अन्य दर्शन और जैनदर्शनका मिलान भी किया है। इसके सिवा

१ देखो प्रकाश ७-१० तक। २ १२ वाँ प्रकाश श्लोक २-३-४। ३. अध्यात्मसारके योगाधिकार और ध्यानाधिकारमें प्रधानतया भगवद्गीता तथा पा॑ञ्जलिसूत्रका उपयोग करके अनेक जैनप्रक्रियाप्रसिद्ध ध्यानविषयोंका उक्त दोनों ग्रन्थोंके साथ समन्वय किया है, जो बहुत ध्यानपूर्वक देखने योग्य है। अध्यात्मोपनिषद् के शास्त्र, ज्ञान, क्रिया और साम्य इन चारों योगोंमें प्रधानतया योगवाशिष्ठ तथा तैत्तिरीय उपनिषद् के वाक्योंका अवतरण दे कर ताँत्रक ऐक्य बतलाया है। योग-वतार बत्तीसीमें खास कर पातजल योगके पदार्थोंका जैनप्रक्रियाके अनुसार स्पष्टीकरण किया है।

उन्होंने हरिभद्रसूरिकृत योगविशिका तथा षोडशकपर टीका लिख कर प्राचीन गृह तत्त्वोंका स्पष्ट उद्धाटन भी किया है। इतना ही करके वे सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने महर्षि-पतञ्जलिकृत योगसूत्रोंके उपर एक छोटीसी वृत्ति भी लिखी है। यह वृत्ति जैन प्रक्रियाके अनुसार लिखी हुई है, इसलिये उसमें यथासंभव योगदर्शनकी भित्ति-स्वरूप सांख्य-प्रक्रियाका जैनप्रक्रियाके साथ मिलान भी किया है, और अनेक स्थलोंमें उसका सयुक्तिक प्रतिवाद भी किया है। उपाध्यायजीने अपनी विवेचनामें जो मध्यस्थता, गुणग्राहकता, सूच्म समन्वयशक्ति और स्पष्टभाषिता दिखाईदी है ऐसी दूसरे आचार्योंमें बहुत कम नजर आती है।

एक योगसार नामक ग्रन्थ भी श्रेताम्बर साहित्यमें है। कर्ताका उल्लेख उसमें नहीं है, पर उसके वृष्टान्त आदि वर्णनसे जान पड़ता है कि हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रके

---

१. इसके लिये उनका ज्ञानसार जो उन्होंने अंतिम जीवनमें लिखा मालूम होता है वह ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। शास्त्रवार्तासमुच्चयकी उनकी टीका(पृ० १०)भी देखनी आवश्यक है।

२. इसके लिये उनके शास्त्रवार्तासमुच्चयादि ग्रन्थ ध्यान-पूर्वक देखने चाहिये, और खास कर उनकी पातञ्जल सूत्रवृत्ति मननपूर्वक देखनेसे हमारा कथन अक्षरशः विश्वसनीय मालूम पड़ेगा।

आधारपर किसी श्वेताम्बर आचार्यके द्वारा वह रचा गया है। दिगम्बर साहित्यमें ज्ञानार्थव तो प्रसिद्ध ही है, पर ध्यानसार और योगप्रदीप ये दो हस्तलिखित ग्रन्थ भी हमारे देखनेमें आये हैं, जो पद्यबन्ध और प्रमाणमें छोटे हैं। इसके सिवाय श्वेताम्बर दिगम्बर संप्रदायके योगविषयक ग्रन्थोंका कुछ विशेष परिचय जैन ग्रन्थावलि पृ० १०६ से भी मिल सकता है। बस यहांतकहीमें जैन योगसाहित्य समाप्त हो जाता है।

बौद्ध सम्प्रदाय भी जैन सम्प्रदायकी तरह निवृत्तिप्रधान है। भगवान् गौतम बुद्धने बुद्धत्व प्राप्त होनेसे पहले छह वर्ष-तक मुख्यतया ध्यानद्वारा योगाभ्यास ही किया। उनके हजारों शिष्य भी उसी मार्ग पर चले। मौलिक बौद्धग्रन्थों-में जैन आगमोंके समान योग अर्थमें बहुधा ध्यान शब्द ही मिलता है, और उनमें ध्यानके चार भेद नजर आते हैं। उक्त चार भेदके नाम तथा भाव प्रायः वही हैं, जो जैनदर्शन तथा योगदर्शनकी प्रक्रियामें हैं'। बौद्ध सम्प्रदायमें समाधि-

१. सो खो अहं ब्राह्मण विविच्चे व कामेहि विविच्च अकुस-  
लेहि धम्मेहि सवितकं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमज्ज्ञानं  
उपसंपज्ज विहासिं; वितकं विचारानं वूपसमा अजक्तं संपसादनं  
घेतसो एकोदिभावं अवितकं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुति-  
यज्ज्ञानं उपसंपज्ज विहासिं; पीतिया च विरागा उपेक्षको च

राज नामक ग्रन्थ भी है। वैदिक जैन और बौद्ध संप्रदायके योगविषयक साहित्यका हमने बहुत संचेपमें अत्यावश्यक परिचय कराया है, पर इसके विशेष परिचयके लिये—केद्लोगम् केद्लॉगॉर्म्, वो० १ पृ० ४७७ से ४८१ पर जो योगविषयक ग्रन्थोंकी नामावलि है वह देखने योग्य है।

विहासि; सतो च संपजानो मुखं च कायेन पटिसंबेदेसि, यं तं अरिया आत्तिक्ष्वन्ति—उपेक्खको सतिमा सुखविहारीऽति तति-यज्ञकानं उपसंपज्ज विहासि; सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुद्वऽव सोमनस्स दोमनस्सान अत्थंगमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासति पारिसुद्धि चतुर्थउभानं उपसंपज्ज मजिममनिकाये भगभेखसुत्तं विहासि ।

इन्हीं चार ध्यानोंका वर्णन दीधनिकाय सामञ्चकफलसुत्तमें है। देखो प्रो. सि. वि. राजबाडे कृत मरठी अनुवाद पृ. ७२।

वही विचार प्रो. धर्मानंद कौशाम्बी लिखित बुद्धतीलासार संप्रहमें है। देखो पृ. १२८।

जैनसूत्रमें शुक्लध्यानके भेदोंका विचार है, उसमें उक्त सवितर्क आदि चार ध्यान जैसा ही वर्णन है। देखो तत्त्वार्थ अ० ६ सू० ४१-४४।

योगशास्त्रमें संप्रज्ञात समाधि तथा समाप्तिओंका वर्णन है। उसमें भी उक्त सवितर्क निर्वितर्क आदि ध्यान जैसा ही विचार है। पा. सू. पा. १-१७, ४२, ४३, ४४।

१ थिआडोरे आउफ्रटकृत लिम्कियमें प्रकाशित १८९१ की आवृत्ति ।

यहाँ एक बात खास ध्यान देनेके योग्य है, वह यह कि यद्यपि वैदिक साहित्यमें अनेक जगह हठयोगकी प्रथाको अत्याधि कहा है, तथापि उसमें हठयोगकी प्रधानतावाले अनेक ग्रन्थोंका और मार्गोंका निर्माण हुआ है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्यमें हठयोगने स्थान नहीं पाया है, इतना ही नहीं, बल्कि उसमें हठयोगका स्पष्ट निषेध भी किया है।

१ उदाहरणार्थः—

सर्वापु युक्तिवेतासु हठान्त्रियमयन्ति ये ।  
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिश्चन्ति तमोऽज्ञनैः ॥ ३७ ॥  
विमृढा कर्तुमुशुका ये हठचेतसो जयम् ।  
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं विसतन्तुभिः ॥ ३८ ॥  
चित्तं चित्तस्य वाऽदूरं संस्थितं स्वशरीरकम् ।  
साधयन्ति समुत्सृज्य युक्ति ये तान्दतान् विदुः ॥ ३९ ॥  
योगवाशिष्ठ—उपशम प्र० सर्ग ६२.

२ इसके उदाहरणमें बौद्ध धर्ममें बुद्ध भगवान्ने तो शुरुमें कष्टप्रधान तपस्याका आंभ करके अंतमें मध्यमप्रतिपदा मार्गका स्वीकार किया है—देखो बुद्धलीलासारसंग्रह.

जैनशास्त्रमें श्रीभद्रबाहुस्वामिने आवश्यकनिर्युक्तिमें “ ऊसा-सं ए णिरुंभइ ” १५२० इत्यादि उक्तिसे हठयोगका ही निराकरण किया है। श्रीहेमचन्द्राचार्यने भी अपने योगशास्त्रमें

**योगशास्त्र**—ऊपरके वर्णनसे मालूम हो जाता है कि-योगप्रक्रियाका वर्णन करनेवाले छोटे बड़े अनेक ग्रन्थ हैं। इन सब उपलब्ध ग्रन्थोंमें महर्षि-पतञ्जलिकृत योगशास्त्रका आसन ऊंचा है। इसके तीन कारण हैं—? ग्रन्थकी संचिस्ता तथा सरलता, २ विषयकी स्पष्टता तथा पूर्णता, ३ मध्यस्थभाव तथा अनुभवसिद्धता। यही कारण है कि योगदर्शन यह नाम सुनते ही सहसा पातञ्जल योग-सूत्रका स्मरण हो जाता है। श्रीशंकराचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें योगदर्शनका प्रतिवाद करते हुए जो “अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः” ऐसा उल्लेख किया है, उससे इस बातमें कोई संदेह नहीं रहता कि उनके सामने पातञ्जल योगशास्त्रसे भिन्न दूसरा कोइ योगशास्त्र रहा है। क्यों कि पातञ्जल योगशास्त्रका आरम्भ “अथ योगानुशासनम्” इस सूत्रसे होता है, और उक्त भाष्योल्लिखित वाक्यमें भी ग्रन्थारम्भसूचक अथ शब्द है, यद्यपि उक्त भाष्यमें “तज्ञानोति मनःस्थास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितं। प्राणस्थायमने पीडा तस्यां स्यात् चित्तविष्टवः ॥” इत्यादि उक्तिसे उसी बातको दोहराया है। श्रीयशोविजयजीने भी पातञ्जलयोगसूत्रकी अपनी वृत्तिमें ( १-३४ ) प्राणायामका योगका अनिश्चित साधन कह कर हठयोगका ही निरसन हिया है।

अन्यत्र और भी योगसम्बन्धी दो<sup>१</sup> उल्लेख हैं, जिनमें एक तो पातञ्जल योगशास्त्रका संपूर्ण सूत्र ही है,<sup>२</sup> और दूसरा उसका अविकल सूत्र नहीं, किन्तु उसके सूत्रसे मिलता जुलता है। तथापि “अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः” इस उल्लेखकी शब्दरचना और स्वतन्त्रताकी ओर ध्यान देनेसे यही कहना पड़ता है कि पिछले दो उल्लेख भी उसी मिन्न योगशास्त्रके होने चाहिये, जिसका कि अंग “अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः” यह वाक्य माना जाय। अस्तु, जो कुछ हो, आज हमारे सामने तो पतञ्जलिका ही योगशास्त्र उपस्थित है, और वह सर्वप्रिय है। इसलिये बहुत संदेपमें भी उसका वाक्य तथा आन्तरिक परिचय कराना अनुपयुक्त न होगा।

इस योगशास्त्रके चार पाद और कुल सूत्र १६५ हैं। पहले पादका नाम समाधि, दूसरेका साधन, तीसरेका विभूति,

१ “स्वाध्यायादिष्टद्रवतासंप्रयोगः” ब्रह्मसूत्र १-३-३३ भाष्यगत। योगशास्त्रप्रसिद्धाः मनसः पञ्च वृत्तयः पण्डितान्ते, “प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः नाम” २-४-१२ भाष्यगत।

पं वासुदेव शास्त्री अभ्यंकरने अपने ब्रह्मसूत्रके मराठो अनुवादके परिशिष्टमें उक्त दो उल्लेखोंका योगसूत्रसूत्रसे निर्देश किया है, पर “अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः” इस उल्लेखके मंवधमें कहीं भी ऊहापोह नहीं किया है।

२ मिलाओं पा. २ सू. ४४ | ३ मिलाओं पा. २ सू. ६।

और चोथेका कैवल्यपाद है। प्रथमपादमें मुख्यतया योगका स्वरूप, उसके उपाय और चित्तस्थिरताके उपायोंका वर्णन है। दूसरे पादमें क्रियायोग, आठ योगाङ्ग, उनके फल तथा चतुर्भूहका मुख्य वर्णन है॥

तीसरे पादमें योगजन्य विभूतियोंके वर्णनकी प्रधानता है। और चोथे पादमें परिणामवादके स्थापन, विज्ञानवादके निराकरण तथा कैवल्य अवस्थाके स्वरूपका वर्णन मुख्य है। महर्षि पतञ्जलिने अपने योगशास्त्रकी नीव सांख्यसिद्धान्तपर ढाली है। इसलिये उसके प्रत्येक पादके अन्तमें “योगशास्त्रे सांख्यप्रवचने” इत्यादि उल्लेख मिलता है। “सांख्यप्रवचने” इस विशेषणसे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि सांख्यके सिवाय अन्यदर्शनके सिद्धांतोंके आधारपर भी रचे हुए योगशास्त्र उस समय मौजुद थे या रचे जाते थे इस योगशास्त्रके ऊपर अनेक छोटे बड़े टीका ग्रन्थ हैं, पर

१ हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय ये चतुर्भूह करलाते हैं। इनका वर्णन सूत्र १६—२६ तकमें है।

२ व्यास कृत भाष्य, वाचस्पतिकृत तत्त्ववैशारदी टीका, भोजदेवकृत राजमार्त्तड, नागोजीभट्ट कृत वृत्ति, विज्ञानभिज्ञु कृत वार्तिक, योगचान्द्रिका, मणिप्रभा, भावागणेशीय वृत्ति, बालरामोदासीन कृत टिप्पण आद।

व्यासकृत भाष्य और वाचस्पतिकृत टीकासे उसकी उपादेयता  
बहुत बढ़ गई है ।

सब दर्शनोंके अन्तिम साध्यके सम्बन्धमें विचार किया  
जाय तो उसके दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं । प्रथम पक्षका  
अन्तिम साध्य शाश्वत सुख नहीं है । उसका मानना  
है कि मुक्तिमें शाश्वत सुख नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं  
है, उसमें जो बुद्ध है वह दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही ।  
दूसरा पक्ष शाश्वतिक सुखलाभको ही मोक्ष कहता है । ऐसा  
मोक्ष हो जानेपर दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति आप ही आप  
हो जाती है । वैशोषिक, नैयायिक, सांख्य, योग और बौद्ध-  
दर्शन प्रथम पक्षके अनुगामी हैं । वेदान्त और जैनदर्शन,  
दूसरे पक्षके अनुगामी हैं ।

- १ “ तदत्यन्तविमोक्षोऽपर्वगः ” न्यायदर्शन १-१-२२ ।  
 २ ईश्वरकृष्णकारिका १ । ३ उसमें हानतत्त्व मान कर  
दुःखके आत्यन्तिक नाशको ही हान कहा है । ४ बुद्ध भगवान्‌के  
तीसरे निरोध नामक आर्यसत्यका भतलब दुःख नाशसे है । ५  
वेदान्त दर्शनमें ब्रह्मको सच्चिदानन्दस्वरूप माना है, इसीलिये  
उसमें नित्यसुखकी अभिव्यक्तिका नाम ही मोक्ष है । ६ जैन  
दर्शनमें भी आत्माको सुखस्वरूप माना है, इसलिये मोक्षमें  
स्वाभाविक सुखकी अभिव्यक्ति ही उस दर्शनको मान्य है ।

योगशास्त्रका विषय-विभाग उसके अन्तिमसाध्यानुसार ही है। उसमें गौण मुख्य रूपसे अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, पर उन सभका संक्षेपमें वर्णकरण किया जाय तो उसके चार विभाग हो जाते हैं। १ हेय २ हेय-हेतु ३ हान ४ हानो-पाय। यह वर्णकरण स्वयं सूत्रकारने किया है। और इसीसे भाष्यकारने योगशास्त्रको चतुर्व्यूहात्मक कहा है। सांख्यसूत्रमें भी यही वर्णकरण है। बुद्ध भगवान् ने इसी चतुर्व्यूहको आर्य-सत्य नामसे प्रसिद्ध किया है। और योगशास्त्रके आठ योगङ्गोंकी तरह उन्होंने चौथे आर्य-सत्यके साधनरूपसे आर्य अष्टाङ्गमार्गका उपदेश किया है।

दुःख हेयै है, अविद्या हेयका कारण है, दुःखका

१ यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तथथा—तंसारः संसारहेतुमेत्कं मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः सं गरो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगां हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिः निवृत्तिर्हनम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। पा० २ सू० १५ भाष्य।

२ सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बुद्धलीलासार संप्रद. पृ. १५०। ३ “दुःखं हेयमनागतम्” २-१६ यो. सू। ४ “द्रष्टुरश्ययोः मयोगो हेयहेतुः २-१७। “तस्य हेतुरविद्या” २-२४ यो. सू।

आत्यन्तिक नाश हानि है, और विवेक-ख्याति हानका उपाय है।

उक्त वर्गीकरणकी अपेक्षा दूसरी रीतिसे भी योगशास्त्रका विषय-विभाग किया जा सकता है। जिससे कि उसके मन्तव्योंका ज्ञान विशेष स्पष्ट हो। यह विभाग इस प्रकार है—१ हाता २ ईश्वर ३ जगत् ४ संसार-मोक्षका स्वरूप, और उसके कारण।

१ हाता दुःखसे छुटकारा पानेवाले द्रष्टा अर्थात् चेतनका नाम है। योग-शास्त्रमें सांख्यैवेशोपिकै, नैयायिक, बौद्ध, जैन और पूर्णप्रज्ञ (मध्व) दर्शनके समान द्वैतवाद

१ “तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दर्शः कैवल्यम्”

२—२६. यो. सू। २ “ विवेकख्यातिरविमुच्या हानोपायः ”

२—२६. यो. सू। ३ “पुरुषबहुत्वं सिद्धं” ईश्वरकृष्णकारिका—१८। ४ “ व्यवस्थातो नाना ”—३—२—२०—वैशेषिकदर्शन।

५ “पुद्गलजीवाम्बनेकद्रव्याणि”—५—५. तत्त्वार्थसूत्र—भाष्य।

६ जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।

जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥

मिथश्च जडभेदो यः प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।

सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादिश्चज्ञाशमाप्नुयात्॥

सर्वदर्शनसंग्रह पूर्णप्रज्ञदर्शन॥

अर्थात् अनेक चेतन माने गये हैं ।

योगशास्त्र चेतनको जैन दर्शनकी तरह देहप्रमाण अर्थात् मध्यमपरिमाणवाला नहीं मानता, और मध्वसम्प्रदायकी तरह अणुप्रमाण भी नहीं मानता, किन्तु सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक और शांकरवेदान्तकी तरह वह उसको व्यापक मानता है<sup>१</sup> ।

इसी प्रकार वह चेतनको जैनदर्शनकी तरह परिणामि-

१ “कृतार्थं प्रति नष्टमत्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्” २-२२  
यो. सू. । २. “असंख्येयभागादिपु जीवानाम्” । १५ ।

“प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्” १६-तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ ।  
३. देखो “उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्” । ब्रह्मसूत्र २-३-१८  
पूर्णप्रक्ष भाष्य । तथा मिलान करो अभ्यंकरशास्त्री कृत मराठी  
शांकरभाष्य अनुवाद भा. ४ पृ. १५३ टिप्पण ४६ ।

४. “निष्क्रियस्य तदसम्भवात्” सां. सू. १-४६,  
निष्क्रियस्य-विभोः पुरुषस्य गत्यसम्भवात्-भाष्य विज्ञानभिन्नु ।

५. विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा । ” ७-१-२२-वै. द. ।

६. देखो ब्र. सू. २-३-२९. भाष्य ।

७. इसलिये कि योगशास्त्र आत्मस्वरूपके विषयमें सांख्य-  
सिद्धान्तानुसारी है ।

८ “नित्यात्रस्थितान्यस्पाणि” ३ । “उत्पादव्ययप्रौद्ययुक्तं  
सन्” । २६ । “तद्वावाव्ययं नित्यम्” ३० । तत्त्वार्थसूत्र अ० ५  
भाष्य सहित

नित्य नहीं मानता, और न बौद्ध दर्शनकी तरह उसको क्षणिक-अनित्य ही मानता है, किन्तु सांख्य आदि उक्त शेष दर्शनोंकी तरह वह उसे कूटस्थ-नित्य मानता है।

२ ईश्वरके सम्बन्धमें योगशास्त्रका मत सांख्य दर्शनसे भिन्न है। सांख्य दर्शन नाना चेतनोंके अतिरिक्त ईश्वरको नहीं मानता, पर योगशास्त्र मानता है। योगशास्त्र-सम्मत ईश्वरका स्वरूप नैयायिक, वैशेषिक आदि दर्शनोंमें माने गये ईश्वरस्वरूपसे कुछ भिन्न है। योगशास्त्रने ईश्वरको एक अलग व्यक्ति तथा शास्त्रोपदेशक माना है सही, पर उसने नैयायिक आदिकी तरह ईश्वरमें नित्यज्ञान, नित्यईच्छा और नित्यकृतिका सम्बन्ध न मान कर इसके स्थानमें सत्त्वगुणका

१. देखो ३० कृ० कारिका ६३ सांख्यतत्त्वकौमुदी ।  
देखो न्यायदर्शन ४-१-१० । देखो ब्रह्मसूत्र २-१-१४ ।  
२-१-२७ । शांकरभाष्य सहित ।

२. देखो योगसूत्र । “सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्य अपरिणामित्वात्” ४-१८ । “चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाऽकारापत्तौ स्वबुद्धिसंबेदनम्” ४-२२ । तथा “ द्वयी चेयं नित्यता, कूटस्थ-नित्यता, परिणामिनित्यता च । तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम् ” इत्यादि ४-३३-भाष्य ।

३ देखो सांख्यसूत्र १-६२ आदि ।

परमप्रकर्ष मान कर तद्द्वारा जगतुद्वारादिकी सब व्यवस्था घटाई दी है ।

३ योगशास्त्र दृश्य जगत्को न तो जैन, वैशेषिक, नैयायिक दर्शनोंकी तरह परमाणुका परिणाम मानता है, न शांकरवेदान्तदर्शनकी तरह ब्रह्मका विवर्त या ब्रह्मका परिणाम ही मानता है, और न बौद्धदर्शनकी तरह शून्य या विज्ञानात्मक ही मानता है, किन्तु सांख्य दर्शनकी तरह वह उसको प्रकृतिका परिणाम तथा अनादि-अनन्त-प्रवाह-स्वरूप्य मानता है ।

४ योगशास्त्रमें वासना, क्लेश और कर्मका नाम ही संसार, तथा वासनादिका अभाव अर्थात् चेतनके स्वरूपावस्थानका नाम ही मोक्ष है । उसमें संसारका मूल कारण अधिद्या और मोक्षका मुख्य हेतु सम्यग्दर्शन अर्थात् योग-जन्य विवेकत्वाति माना गया है ।

**महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता—यह पहले**

१ यद्यपि यह व्यवस्था मूल योगसूत्रमें नहीं है, परन्तु भाष्यकार तथा टीकाकारने इसका उपयादन किया है । देखो पातञ्जल यो. सू. पा. १ सू. २४ भाष्य तथा टीका ।

२ तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थानम् । १-३ योगसूत्र ।

कहा जा चुका है कि सांख्य सिद्धान्त और उसकी प्रक्रियाको ले कर पतञ्जलिने अपना योगशास्त्र रचा है, तथापि उनमें एक ऐसी विशेषता अर्थात् दृष्टिविशालता नजर आती है जो अन्य दार्शनिक विद्वानोंमें बहुत कम पाई जाती है। इसी विशेषताके कारण उनका योगशास्त्र मानों सर्वदर्शन-समन्वय बन गया है। उदाहरणार्थ सांख्यका निरीश्वरवाद जब वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शनोंके द्वारा अच्छी तरह निरस्त हो गया और साधारण लोक-स्वभावका झुकाव भी ईश्वरोपासनाकी ओर विशेष मालूम पड़ा, तब अधिकारि-भेद तथा रूचिविचित्रताका विचार करके पतञ्जलिने अपने योगमार्गमें ईश्वरोपासनाको भी स्थान दिया, और ईश्वरके स्वरूपका उन्होंने निष्पक्ष भावसे ऐसा निरूपण किया है जो सबको मान्य हो सके।

पतञ्जलिने सोचा कि उपासना करनेवाले सभी लोगोंका साध्य एक ही है, फिर भी वे उपासनाकी भिन्नता और उपासनामें उपयोगी होनेवाली प्रतीकोंकी भिन्नताके व्या-

१ “ईश्वरप्रणिधानाद्वा” १-३३ ।

२ “क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः”  
“तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्” । “पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्” । ( १-२४, २५, २६ )

मोहमें अज्ञानवश आपस आपसमें लड़ मरते हैं, और इस धार्मिक कलहमें अपने साध्यको लोक भूल जाते हैं। लोगोंको इस अज्ञानसे हटा कर सत्पथपर लानेके लिये उन्होंने कह दिया कि तुम्हारा मन जिसमें लगे उसीका ध्यान करो। जैसी प्रतीक तुम्हें पसंद आवे वैसी प्रतीककी ही उपासना करो, पर किसी भी तरह अपना मन एकाग्र व स्थिर करो। और तद्वारा परमात्म-चिन्तनके सबे पात्र बनो। इस उदारताकी मूर्तिस्वरूप मतभेदसहिष्णु आदेशके द्वारा पतञ्जलिने सभी उपासकोंको योग-मार्गमें स्थान दिया, और ऐसा करके धर्मके नामसे होनेवाले कलहको कम करनेका उन्होंने सज्जा मार्ग लोगोंको बतलाया।

१ “ यथाऽभिमतध्यानाद्वा ” १-३८

इसी भावकी सूचक महाभारतमें—

ध्यानमुत्पादयत्व, संहिताबलसंश्रयान्

यथाभिमतमन्त्रेण, प्रणवाद्यं जपेत्कृती ॥

शान्तिपर्व प्र० १६४ श्लो. २०

यह उक्ति है। और ओगवाशिष्ठमें—

यथाभिवाच्छ्रुतध्यानाच्चिरमेकतयोदितान् ।

एकतत्त्वघनाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुद्धर्यते ॥

उपशम प्रकरण सर्ग ७८ श्लो. १६ ।

यह उक्ति है।

उनकी इस दृष्टिविशालताका असर अन्य गुण-ग्राही आचार्योंपर भी पड़ा, और वे उस मतभेदसहिष्णुताके तत्त्वका मर्म समझ गये ।

१. पुष्टैश्च बलिना चैव वल्लैः स्तोत्रैश्च शोभनैः ।  
 देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥  
 अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा ।  
 गृहिणां माननीया यत्सर्वे देवा महात्मनाम् ॥  
 सर्वान्देवान्नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः ।  
 जितेन्द्रिया जितकोषा दुर्गाएयतितरन्ति ते ॥  
 चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः ।  
 नान्यथात्रेष्टसिद्धिः स्याद्विशेषेणादिकर्मणाम् ॥  
 गुणाधिक्यपरिज्ञानादिशेषेऽप्यतीदिष्यते ।  
 अद्वेषेण तदन्येषां वृत्ताधिक्ये तथात्मनः ॥

योगबिन्दु श्लो. १६-२०

जो विशेषदर्शी होते हैं, वे तो कीसी प्रतीक विशेष या उपासना विशेषको स्वीकार करते हुए भी अन्य प्रकारकी प्रतीक माननेवालों या अन्य प्रकारकी उपासना करनेवालोंसे ह्रेष नहीं रखत, पर जो धर्माभिमानी प्रथमाधिकारी होते हैं वे प्रतीकभेद या उपासनाभेदके व्यामोहसे ही आपसमें लड़ मरते हैं। इस अनिष्ट तत्त्वको दूर करनेके लिये ही श्रीमान् हरिभद्रसूरिने उक्त पद्मोमें प्रथमाधिकारीके लिये सब देवोंकी उपासनाको लाभदायक बत-

वैशेषिक, नैयायिक आदिकी ईश्वरविषयक मान्यताका  
तथा साधारण लोगोंकी ईश्वरविषयक श्रद्धाका योगमार्गमें  
उपयोग करके ही पतञ्जलि चुप न रहे, पर उन्होंने वैदिके-

---

ज्ञानेका उदार प्रयत्न किया है। इस प्रयत्नका अनुकरण श्री-  
यशोविजयजीने भी अपनी “पूर्वसेवाद्वात्रिशिका” “आठ-  
दृष्टियोंकी सज्जाय” आदि प्रन्थोंमें किया है। एकदेशीयसम्प्र-  
दायाभिनिवेशी लोगोंको समजानेके लिये ‘चारिसंजीवनीचार’  
न्यायका उपयोग उक्त दोनों आचार्योंने किया है। यह न्याय  
बड़ा मनोरञ्जक और रिक्षाप्रद है।

इस समभावसूचक टष्टान्तका उपनय श्रीक्षानविमलने  
आठदृष्टिकी सज्जाय पर किये हुए अपने गूजराती टबेमें बहुत  
अच्छी तरह घटाया है, जो देखने योग्य है। इसका भाव  
संक्षेपमें इस प्रकार है। कीसी छीने अपनी सखीसे कहा कि  
मेरा पति मेरे अधीन न होनेसे मुझे बड़ा कष्ट है, यह सुन कर  
उस आगन्तुक सखीने कोई जड़ी खिला कर उस पुरुषको बैल  
बना दिया, और वह अपने स्थानको चली गई। पतिके बैल  
बनजानेसे उसकी पत्नी दुःखित हुई, पर फिर वह पुरुषरूप  
बनानेका उपाय न जाननेके कारण उस बैलरूप पतिको चराया  
करती थी, और उसकी सेवा किया करती थी। कीसी समय  
अचानक एक विद्याधरके मुखसे ऐसा सुना कि अगर बैलरूप  
पुरुषको संजीवनी नामक जड़ी चराई जाय तो वह फिर असली रूप

[ ५९ ]

तर दर्शनोंके सिद्धान्त तथा प्रक्रिया जो योगमार्गके लिये सर्वथा उपयोगी जान पड़ी उसका भी अपने योगशास्त्रमें बड़ी उदारतासे संग्रह किया । यद्यपि बौद्ध विद्वान् नागार्जुनके विज्ञानवाद तथा आत्मपरिणामित्ववादको युक्तिहीन समझ कर या योगमार्गमें अनुपयोगी समझ कर उसका निरसन चौथे पादमें किया है, तथापि उन्होंने बुद्धभगवान्‌के परमप्रिय चार आईर्यसत्योंका हेय, हेयहेतु, हान और होनोपाय रूपसे स्वीकार निःसंकोच भावसे अपने योगशास्त्रमें किया है ।

धारण कर सकता है । विद्याधरसे यह भी सुना कि वह जड़ी अमुक वृक्षके नीचे है, पर उस इक्के नीचे अनेक प्रकारकी बनस्पति होनेके कारण वह छी संजीवनीको पहचाननेमें असमर्थ थी । इसमें उस दुःखित छीने अपने बैलरूपधारि पतिको सब बनस्पतियाँ चरा दीं । जिनमें संजीवनीको भी वह बैल चर गया, और बैलरूप छोड़ कर फिर मनुष्य बन गया । जैसे विशेष परीक्षा न होनेके कारण उस छीने सब बनस्पतियोंके साथ संजीवनी खिला कर अपने पतिका कुत्रिम बैलरूप छुड़ाया, और असली मनुष्यत्वको प्राप्त कराया, वैसे ही विशेष परीक्षाविकल प्रथमाभिकारी भी सब देवोंकी समभावसें उपासना करते करते योगमार्गमें विकास करके इष्ट लाभ कर सकता है ।

१ देखो सू० १५, १८ ।

२ दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ।

जैव दर्शनके साथ योगशास्त्रका सादृश्य तो अन्य सब दर्शनोंकी अपेक्षा अधिक ही देखनेमें आता है। यह बात स्पष्ट होनेपर भी बहुतोंको चिदित ही नहीं है, इसका सबब यह है कि जैनदर्शनके खास अभ्यासी ऐसे बहुत कम हैं जो उदारता पूर्वक योगशास्त्रका अवलोकन करनेवाले हों, और योगशास्त्रके खास अभ्यासी भी ऐसे बहुत कम हैं जिन्होंने जैनदर्शनका बारीकीसे ठीक ठीक अवलोकन किया हो। इसलिये इस विषयका विशेष खुलासा करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

योगशास्त्र और जैनदर्शनका सादृश्य मुख्यतया तीन प्रकारका है। १ शब्दका, २ विषयका और ३ प्राक्रियाका।

१ मूल योगसूत्रमें ही नहीं किन्तु उसके भाष्यतकमें ऐसे अनेक शब्द हैं जो जैनेतर दर्शनोंमें प्रसिद्ध नहीं हैं, या बहुत कम प्रसिद्ध हैं, किन्तु जैन शास्त्रमें खास प्रसिद्ध हैं। जैसे—भवप्रत्यय, सवितर्क सविचार निर्विचार, महावैत, कृत

१ “भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्” योगसू. १-१६।  
“भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्” तत्त्वार्थ अ. १-२२।

२ ध्यानविशेषरूप शर्थमें ही जैनशास्त्रमें ये शब्द इस प्रकार हैं “एकाश्रये सवितरके पूर्वे” ( तत्त्वार्थ अ. ९-४३ ) “तत्र

कारित अनुमोदिते, प्रकाशौवरण, सोपक्रम निरूपक्रम, वज्रसं-  
सविचारं प्रथमम् ” भाष्य “ अविचारं द्वितीयम् ” तत्त्वा—अ  
६—४४ । योगसूत्रमें ये शब्द इस प्रकार आये हैं—“तत्र श-  
ब्दार्थज्ञानविकलैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥” “स्मृतिपरि-  
शुद्धौ स्वरूपशून्येवर्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्की” “एतयैव सविचारा  
निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥” १—४२, ४३, ४४ ।

३ जैनशास्त्रमें मुनिसम्बन्धी पाँच यमोंके लिये यह शब्द  
बहुत ही प्रसिद्ध है । “ सर्वतो विरतिर्महाब्रतमिति ” तत्त्वार्थ  
अ० ७—२ भाष्य । यही शब्द उसी अर्थमें योगसूत्र २—३१ में है ।

४ ये शब्द जिस भावके लिये योगसूत्र २—३१ में  
प्रयुक्त हैं, उसी भावमें जैनशास्त्रमें भी आते हैं, अन्तर सिर्फ  
इतना है कि जैनव्याख्यामें अनुमोदितके स्थानमें बहुधा अनुमत—  
शब्द प्रयुक्त होता है । देखो—तत्त्वार्थ, अ. ६—६ ।

५ यह शब्द योगसूत्र २—५२ तथा ३—४३ में है । इसके  
स्थानमें जैनशास्त्रमें ‘ज्ञानावरण’ शब्द प्रसिद्ध है । देखो  
तत्त्वार्थ, अ. ६—११ आदि ।

६ ये शब्द योगसूत्र ३—२२ में हैं । जैन कर्मविषयक साहि-  
त्यमें ये शब्द बहुत प्रसिद्ध हैं । तत्त्वार्थमें भी इनका प्रयोग  
हुआ है, देखो—अ. २—४२ भाष्य ।

७ यह शब्द योगसूत्र ( ३—४६ ) में प्रयुक्त है । इसके  
स्थानमें जैन व्याख्यामें ‘वज्रऋषभनाराचसंहनन’ ऐसा शब्द  
मिलता है । देखो तत्त्वार्थ ( अ० ८—१२ ) भाष्य ।

हनन, केवली, कुशल, ज्ञानावैरणीयकर्म, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सर्वज्ञ, दीणक्रेश, चर्मदेह आदि ।

२ प्रसुप, ततु आदिक्लेशावस्था, पाँच यमं, योगज-

१ योगसूत्र (२-२७) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० ६-१४) ।

२ देखो योगसूत्र (२-२७) भाष्य, तथा दग्धवैकालिकनिर्युक्ति गाथा १८६ ।

३ देखो योगसूत्र (२ ५१) भाष्य, तथा आवश्यक-निर्युक्ति गाथा ८८३ ।

४ योगसूत्र (२-२८) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० १-१) ।

५ योगसूत्र (४-१५) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० १-२) ।

६ योगसूत्र (३-४९) भाष्य, तत्त्वार्थ (३-४९) ।

७ योगसूत्र (१-४) भाष्य । जैन शास्त्रमें बहुधा तीणमोहनीयकषाया' शब्द मिलते हैं । देखो तत्त्वार्थ (अ० ९-३८) ।

८ योगसूत्र (२-४) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० २-५२) ।

९ प्रसुप, ततु, विच्छिन्न और उदार इन चार अवस्थाओं का योगसूत्र (२-४) में वर्णन है । जैनशास्त्रमें वही भाव मोहनीयकर्मकी सत्ता, उपशमक्षयोपशम, विरोधिप्रकृतिके उदयादिकृनव्यवधान और उदयावस्थाके वर्णनरूपसे वर्तमान है । देखो योगसूत्र (२-४) की यशोविजयकृत वृत्ति ।

१० पाँच यमोंका वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थोंमें है सही, पर

न्यं विभूति, सोपक्रम निरूपयमक्रम कर्मका स्वरूप, तथा उसके उसकी परिपूर्णता “ जातिदेशकालसमयाऽनवचिक्षणाः सर्वभौमा महाब्रतम् ” ( योगसूत्र २-३१ ) में तथा दशवैकालिक अध्ययन छ आदि जैनशास्त्रप्रतिपादित महाब्रतोंमें देखनेमें आती है ।

१ योगसूत्रके तीसरे पादमें विभूतियोंका वर्णन है, वे विभूतियाँ दो प्रभारकी हैं । १ वैज्ञानिक २ शारीरिक । अतीताऽनागतज्ञान, सर्वभूतरुतज्ञान, पूर्वज्ञानज्ञान, परचित्तज्ञान, भुत्तनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, आदि ज्ञानविभूतियाँ हैं । अन्तर्धान, हस्तितल, परकायप्रदेश, अणिमादि ऐश्वर्य तथा रूपलावण्यादि कायसंग्रह, इत्यादि शारीरिक विभूतियाँ हैं । जैनशास्त्रमें भी अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, जातिस्मरणज्ञान, पूर्वज्ञान आदि ज्ञानलब्धियाँ हैं, और आमौषधि, विप्रडौषधि, शेषमौषधि, सवौषधि, जंघचारण, विद्याचारण, वैक्रिय, आहारक आदि शारीरिक लब्धियाँ हैं । देखो आवश्यकनिर्युक्ति ( गा० ६६, ७० ) लब्धि यह विभूतिका नामान्तर है ।

२ योगभाष्य और जैनग्रन्थोंमें सोपक्रम निरूपक्रम आयुष्कर्मका स्वरूप विलक्षण एकसा है, इतना ही नहीं बल्कि उस स्वरूपको दिखाते हुए भाष्यकारने ( यो. सू. ३-२२ ) के भाष्यमें आद्रे वस्त्र और लृणराशिके जो दो दृष्टान्त लिखे हैं, वे आवश्यकनिर्युक्ति ( गाथा-८५६ ) तथा विशेषावश्यक भाष्य ( गाथा-३-६१ ) आदि जैनशास्त्रमें सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, पर

## दृष्टान्त, अनेक काँयोंका निर्माण आदि ।

तत्त्वार्थ (अ० - २५२) के भाष्यमें उक्त दो दृष्टान्तोंके उपरान्त एक तीसरा गणितविषयक दृष्टान्त भी लिखा है । इस विषयमें उक्त व्यासभाष्य और तत्त्वार्थभाष्यका शाब्दिक साहश्य भी बहुत अधिक और अर्थसूचक है ।

“ यथाऽऽर्द्धवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम् । यथा च तदेव सपरिदृतं चिरेण संशुष्येद् एवं निरुपक्रमम् । यथा चाप्तिः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन वा समन्ततो युक्तः क्लेपीयसा कालेन दहेन तथा सोपक्रमम् । यथा वा स एवाऽप्तिस्तु-एणाराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम् ( योग. ३ - २२ ) भाष्य । यथाहि संहतस्य शुष्कस्यापि त्रणरा-शेरवयवशः क्रमेण दृष्टमानस्य चिरेण दाहो भवति, तस्यैव शिथि-लप्रकार्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहत-स्याशु दाहो भवति, तद्वत् । यथा वा संख्यानाचार्यः करणलाघ-वार्य गुणकारभागहारभ्यां राशिंश्चेदादेवापवर्तयति न च संख्ये-यस्यार्थस्याभावो भवति, तद्वुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्त्तः कर्मप्रत्ययमनामोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य कलोपभोगलाघ-वार्य कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति ॥ किं चान्यत् । यथा वा धौतपटों जलार्द्रं एव संहतश्चिरेण शोषमुपयाति । स एव च वितानितः सूर्यरशिमवाय्वाभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति । (अ०२-५२ भाष्य) ।

१ योगवल्से योगी जो अनेक शरीरोंका निर्माण करता

३ परिणामि-नित्यता अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौद्य-रूपसे त्रिरूप वरतु मान कर तदनुसार धर्मधर्मीका विवेचन इत्यादि ।

इसी विचारसमताके कारण श्रीमान् हरिभद्र जैसे जैनाचायोंने महर्षि पतञ्जलिके प्रति अपना हार्दिक आदर प्रकट करके अपने योगविषयक ग्रन्थोंमें गुणग्राहकताका निर्भीक है, उसका वर्णन योगसूत्र ( ४-४ ) में है, यहाँ विषय बैक्षिय-आहारका लक्षितरूपसे जैनग्रन्थोंमें वर्णित है ।

१ जैनशास्त्रमें वरतुको द्रव्यपर्यायरूप माना है । इसीलिये उसका लक्षण तत्त्वार्थ ( अ० ५-२८ ) में “ उत्पादव्यय-ध्रौद्ययुक्त सत् ” ऐसा किया है । योगसूत्र ( ३-१३, १४ ) में जो धर्मधर्मीका विचार है वह उक्त द्रव्यपर्यायउभयरूपता किंवा उत्पाद, व्यय, ध्रौद्य इस त्रिरूपताका ही चित्रण है । भिन्नता सिर्फ दोनोंमें इतनी ही है कि-योगसूत्र सांख्यसिद्धान्तानुसारी होनेसे “ श्रुते चितिशङ्केः परिणामिनो भावाः ॥ ” यह सिद्धान्त मानकर परिणामवादका अर्थात् धर्मलक्षणावस्थापरिणामका उपयोग सिर्फ जडभागमें अर्थात् प्रकृतिमें करता है, चेतनमें नहीं । और जैनदर्शन हो “ सर्वे भावाः परिणामिनः ॥ ” ऐसा सिद्धान्त मानकर परिणामवाद अर्थात् उत्पादव्ययरूप पर्यायका उपयोग जड चेतन दोनोंमें करता है । इतनी भिन्नता होनेपर भी परिणामवादकी प्रक्रिया दोनोंमें एक सी है ।

परिचय पूरे तोरसे दिया है, और जगह जगह पतञ्जलिके योगशास्त्रगत खास साङ्केतिक शब्दोंका जैन सङ्केतोंके साथ मिलान करके सङ्कीर्ण-दृष्टिवालोंके लिये एकताका मार्ग खोलैं दिया है। जैन विद्वान् यशोविजयवाचकने हरिभद्रसूरि-सूचित एकताके मार्गको विशेष विशाल बनाकर पतञ्जलिके योगसूत्रको जैन प्रक्रियाके अनुसार समझानेका थोड़ा किन्तु मार्मिक प्रयास किया है। इतना ही नहीं बल्कि अपनी बत्ती-सियोंमें उन्होंने पतञ्जलिके योगसूत्रगत कुछ विषयोंपर खास बत्तीमियाँ भी रखी हैं। इन सब बातोंको संक्षेपमें बतलानेका

१ उकं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकलमपैः ।

भावियोगहितायोच्चैर्मोहदीपत्रं चचः ॥

( योग. वि. श्लो. ६६ ) टीका ‘ उकं च निरूपितं पुनः योगमार्गज्ञैरस्थात्मविद्विः पतञ्जलिप्रभृतिभिः ॥ एतत्प्रधानः सच्छाद्वः शीलवान् योगतत्त्वः । जानात्यर्त्तिन्द्रियानर्थास्तथा चाह महामतिः ॥ ॥ ( योगदृष्टिसमुच्चय श्लो. १०० ) टीका ‘ तथा चाह महामतिः पतञ्जलिः ॥ ऐसा ही भाव गुणप्राही श्रीयशो-विजयनीने अपनी योगावतारद्वार्तिशिकामें प्रकाशित किया है। देखो—श्लो. २० टीका ।

२ देखो योगविन्दु श्लोक ४१८, ४२० ।

३ देखो उनकी बनाई हुई पातञ्जलसूत्रवृत्ति ।

४ देखो पातञ्जलयोगलक्षणविचार, ईशानुप्रहविचार, योगावतार, क्लेशहानोपाय और योगमाहात्म्य द्वार्तिशिका ।

उद्देश्य यही है कि महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता इतनी अधिक थी कि सभी दार्शनिक व साम्प्रदायिक विद्वान् योग-शास्त्रके पाम आते ही अपना साम्प्रदायिक अभिनिवेश भूल गये और एकस्तपताका अनुभव करने लगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि—महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टि-विशालता उनके विशिष्ट योगानुभवका ही फल है, क्योंकि—जब कोई भी मनुष्य शब्दज्ञानकी प्राथमिक भूमिकासे आगे बढ़ता है तब वह शब्दकी पृष्ठ न खींचकर चिन्ताज्ञान तथा भावनाज्ञानके उत्तरोत्तर अधिकाधिक एकतावाले प्रदेशमें अभेद आनंदका अनुभव करता है।

**आचार्य हरिभद्रकी योगमार्गमें नवीन दिशा—** श्रीहरिभद्र प्रभिज्ञ जैनाचार्योंमें एक हुए। उनकी बहुश्रुतता, सर्वतोमुखी प्रतिभा, मध्यस्थता और समन्वयरक्तिका पूरा परिचय करानेका यहाँ प्रसंग नहीं है। इसके-लिये जिज्ञासु महाशय उनकी कृतियोंको देख लेवें। हरिभद्रस्वरिकी शतमुखी प्रतिभाके स्रोत उनके बनाये हुए चार-

१ शब्द, चिन्ता तथा भावनाज्ञानका स्वरूप श्रीयशोविजय-जीने अध्यात्मोपनिषद्‌में लिखा है, जो आध्यात्मिक लोगोंको देखने योग्य है अध्यात्मोपनिषद् श्लो. ६५, ७४।

२ द्रव्यानुयोगविषयक—धर्मसंप्रहणी आदि १, गणिता-नुयोगविषयक—क्षेत्रसमाप्ति टीका आदि २, चरणकरणानुयोग-

अनुयोगविषयक ग्रन्थोंमें ही नहीं बल्कि जैन न्याय तथा भारतवर्षीय तत्कालीन समग्र दार्शनिक सिद्धांतोंकी चर्चावाले ग्रन्थोंमें भी वहे हुए हैं। इतना करके ही उनकी प्रतिभा मौन न हुई, उसने योगमार्गमें एक ऐसी दिशा दिखाई जो केवल जैन योगसाहित्यमें ही नहीं बल्कि आर्यजातीय मंपूर्ण योग-विषयक साहित्यमें एक नई वस्तु है। जैनशास्त्रमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका प्राचीन वर्णन चौदह गुणस्थान-रूपसे, चार ध्यान रूपसे और बहिरात्म आदि तीन अवस्थाओंके रूपसे मिलता है। हरिभद्रसूरिने उसी आध्यात्मिक विकासके क्रमका योगरूपसे वर्णन किया है। पर उसमें उन्होंने जो शैली रखी है वह अभीतक उपलब्ध योगविषयक साहित्यमेंसे किसी भी ग्रंथमें क्रमसे कम हमारे देखनेमें तो नहीं आई है। हरिभद्रसूरि अपने ग्रन्थोंमें अनेक योगियोंका नामनिर्देश करते हैं। एवं योगविषयक ग्रन्थोंका उल्लेख करते विषयक—पञ्चवस्तु, धर्मविन्दु आदि ३, धर्मकथानुयोगविषयक—समराहचकहा आदि ४ प्रन्थ मुख्य हैं।

१ अनेकान्तजयपत्राका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तास-मुच्य आदि ।

२ गोपेन्द्र ( योगविन्दु श्लोक. २०० ) कालातीत ( योगविन्दु श्लोक ३०० )। पतञ्जलि, भद्रन्तभास्करवन्धु, भगवदन्त ( च ) वादी ( योगदृष्टि० श्लोक १६ टीका ) ।

३ योगनिर्णय आदि ( योगदृष्टि० श्लोक १ टीका ) ।

हैं जो अभी प्राप्त नहीं भी हैं। संभव है उन अप्राप्य ग्रन्थोंमें उनके वर्णनकी सी शैली रही हो, पर हमारे लिये तो यह वर्णनशैली और योग विषयक वस्तु विलकुल अपूर्व है। इस समय हरिभद्रस्त्रिके योगविषयक चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जो हमारे देखनेमें आये हैं। उनमेंसे घोड़शक और योग-विंशिकाके योगवर्णनकी शैली और योगवस्तु एक ही है। योगविंशिकी विचारसरणी और वस्तु योगविंशिकासे जुदा है। योगदृष्टिसमुच्चयकी विचारधारा और वस्तु योगविंशिकी से भी जुदा है। इस प्रकार देखनेसे यह कहना पड़ता है कि हरिभद्रस्त्रिने एक ही आध्यात्मिक विकासके क्रमका चित्र भिन्न भिन्न ग्रन्थोंमें भिन्न भिन्न वस्तुका उपयोग करके तीन प्रकारसे खींचा है।

कालकी अपारिमित लंबी नदीमें वासनारूप संसारका गहरा प्रवाह बहता है, जिसका पहला छोर ( मूल ) तो अनादि है, पर दूसरा (उत्तर) छोर सान्त है। इसलिये मुमुक्षुओंके वास्ते सबसे पहले यह प्रश्न बड़े महत्वका है कि उक्त अनादि प्रवाहमें आध्यात्मिक विकासका आरंभ कबसे होता है ? और उस आरंभके समय आत्माके लक्षण कैसे हो जाते हैं ? जिनसे कि आरंभिक आध्यात्मिक विकास जाना जा सके। इस प्रश्नका उत्तर आचार्यने योगविंशिमें दिया है। वे कहते हैं कि--“ जब आत्माके ऊपर मोहका प्रभाव घटनेका आरंभ होता है, तभीसे आध्यात्मिक विकासका सूत्रपात हो जाता

है। इस सूत्रपातका पूर्ववर्ती समय जो आध्यात्मिकविकास-रहित होता है, वह जैनशास्त्रमें अचरमपुद्गलपरावर्तके नामसे प्रसिद्ध है। और उत्तरवर्ती समय जो आध्यात्मिक विकासके क्रमवाला होता है, वह चरमपुद्गलपरावर्तके नामसे प्रसिद्ध है। अचरमपुद्गलपरावर्तन और चरमपुद्गलपरावर्तनकालके परिमाणके बीच सिंधु और विंदुका सा अंतर होता है। जिस आत्माका संसारप्रवाह चरमपुद्गलपरावर्तपरिमाण शेष रहता है, उसको जैन परिभाषामें 'अपुनर्वर्धक' और मारुत्य-परिभाषामें 'निवृत्ताधिकार प्रकृति' कहते हैं<sup>१</sup>। अपुनर्वर्नन्धक या निवृत्ताधिकार प्रकृति आत्माका आंतरिक परिचय इतना ही है कि उसके ऊपर मोहका दबाव कम होकर उलटे मोहके ऊपर उस आत्माका दबाव शुरू होता है। यही आध्यात्मिक विकासका बीजागेपण है। यहाँसे योगमार्गका आरंभ हो जानेके कारण उस आत्माकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें सख्तता, नम्रता, उदारता, परोपकारपरायणता आदि सदा-चार वास्तविकरूपमें दिखाई देते हैं। जो उस विकासोन्मुख आत्माका बाह्य परिचय है”। इतना उत्तर देकर आचार्यने योगके आरंभसे लेकर योगकी पराकाशा तकके आध्यात्मिक विकासकी क्रमिक वृद्धिको स्पष्ट समझानेके लिये उसको

१ देखो मुन्त्रयद्वेषद्वात्रिंशिता २८।

२ देखो योगविंदु १७८, २०१।

पाँच भूमिकाओंमें विभक्त करके हर , एक भूमिकाके लक्षण बहुत स्पष्ट दिखाये हैं । और जगह जगह जैन परिभाषाके साथ बौद्ध तथा योगदर्शनकी परिभाषाका मिलान करके परिभाषाभेदकी दिवारको तोड़कर उसकी ओटमें छिपी हुई योगवस्तुकी भिन्नभिन्नदर्शनसम्मत एकरूपताका स्फुट प्रदर्शन कराया है । अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंबंध ये योगमार्गकी पाँच भूमिकायें हैं । इनमेंसे पहली चारको पतंजलि संप्रज्ञात, और अन्तिम भूमिकाको असंप्रज्ञात कहते हैं<sup>१</sup> । यही संक्षेपमें योगविन्दुकी वस्तु है ।

योगदृष्टिमुच्चयमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका वर्णन योगविन्दुकी अपेक्षा दूसरे ढंगमें है । उसमें आध्यात्मिक विकासके प्रारंभके पहलेकी स्थितिको अर्थात् अचरमपुद्गलपरावर्तपरिमाण संसारकालीन आत्माकी स्थितिको ओघदृष्टि कहकर उसके तरतम भावको अनेक दृष्टिंत द्वारा समझाया

१ योगविन्दु, ३१, ३७, ३४८, ३६१, ३६३, ३६५ ।

२ “यत्मम्यग्नदर्शनं बोधिसत्त्वधानो महोदयः ।

सत्त्वोऽस्तु ब्राह्मिसत्त्वस्तद्वन्तैषोऽन्वर्थतोऽपि हि ॥२७३॥

वरबोधिसमेतो वा तीर्थकृद्यो भविष्यति ।

तथा भव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः” ॥२७४॥

योगविन्दु ।

३ देखो योगविन्दु ४१८, ४२० ।

है,<sup>१</sup> और पीछे आध्यात्मिक विकासके आरंभसे लेकर उसके अंततकर्म में पाई जानेवाली योगावस्थाको योगदृष्टि कहा है। इस योगावस्थाकी क्रमिक वृद्धिको समझानेके लिये संक्षेपमें उसे आठ भूमिकाओंमें खाँट दिया है। वे आठ भूमिकायें उस ग्रन्थमें आठ योगदृष्टिके नामसे प्रसिद्ध हैं<sup>२</sup>। हन आठ दृष्टिओंका विभाग पातंजलयोगदर्शन-प्रसिद्ध यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि आठ योगांगोंके आधार पर किया गया है, अर्थात् एक एक दृष्टिमें एक एक योगांगका सम्बन्ध मुख्यतया बतलाया है। पहली चार दृष्टिओं योगकी प्रारम्भिक अवस्थारूप होनेसे उनमें अविद्याका अल्प अंश रहता है। जिसको प्रस्तुत ग्रन्थमें अवेद्यसंवेद्यपद कहा है<sup>३</sup>। अगली चार दृष्टिओंमें अविद्याका अंश बिल्कुल नहीं रहता। इस भावको आचार्यने वेद्यसंवेद्यपद शब्दसे जनाया है। इसके सिवाय प्रस्तुत ग्रन्थमें पिछली चार दृष्टियोंके समय पाये जानेवाले विशिष्ट आध्यात्मिक विकासको इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग ऐसी तीन योगभूमिकाओंमें विभाजित करके उक्त तीनों योगभूमिकाओंका बहुत रोचक वर्णन किया है<sup>४</sup>।

१ देखो—योगदृष्टिसमुच्चय १४।

२ „ „ १३।

३ „ „ ७५।

४ „ „ ७३।

५ „ „ २-१२।

आचार्यने अन्तमें चार प्रकारके योगियोंका वर्णनकरके योगशास्त्रके अधिकारी कौन हो सकते हैं ? यह भी बतला दिया है । यही योगदृष्टिसमुच्चयकी बहुत संक्षिप्त वस्तु है ।

योगविशिष्कामें आध्यात्मिक विकासकी प्रारंभिक आवस्थाका वर्णन नहीं है, किन्तु उसकी पुष्ट अवस्थाओंका ही वर्णन है ।

इसीमें उम्में मुख्यतया योगके अधिकारी त्यागी ही माने गये हैं । प्रस्तुत ग्रन्थमें त्यागी गृहस्थ और साधुकी आवश्यक-क्रियाको ही योगरूप बतलाकर उसके द्वारा आध्यात्मिक विकासकी क्रमिक वृद्धिका वर्णन किया है । और उस आवश्यक-क्रियाके द्वारा योगको पाँच भूमिकाओंमें विभाजित किया है । ये पाँच भूमिकायें उसमें स्थान, शब्द, अर्थ, सालंचन और निरालंचन नामसे प्रसिद्ध हैं । इन पाँच भूमिकाओंमें कर्मयोग और ज्ञानयोगकी घटना करते हुए आचार्यने पहली दो भूमिकाओंको कर्मयोग और पिछली तीन भूमिकाओंको ज्ञानयोग कहा है । इसके सिवाय प्रत्येक भूमिकामें इच्छा, वृप्रति, स्थैर्य और सिद्धरूपमें आध्यात्मिक विकासके तरतम भावका प्रदर्शन कराया है । और उस प्रत्येक भूमिका तथा इच्छा, प्रवृत्ति आदि अवान्तर स्थितिका लक्षण बहुत स्पष्टतया वर्णन किया है । इस प्रकार उक्त

पाँच भूमिकाओंकी अन्तर्गत भिन्न भिन्न स्थितिओंका वर्णन-  
करके योगके अस्सी भेद किये हैं, और उन सबके लक्षण  
बतलाये हैं, जिनको ध्यानपूर्वक देखनेवाला यह जान सकता  
है कि मैं विकासकी किस सीढ़ीपर खड़ा हूँ। यही योगविं-  
शिकार्की संक्षिप्त वस्तु है।

**उपसंहार**—विषयकी गहराई और अपनी अपूर्ण-  
ताका खयाल होते हुए भी यह प्रयास इस लिये  
किया गया है कि अवतकका अवलोकन और स्मरण  
संचेपमें भी लिपिबद्ध हो जाय, जिसमें भविष्यतमें विशेष  
प्रगति करना हो तो इस विषयका प्रथम सोपान तयार रहे।  
इस प्रवृत्तिमें कई मित्र मेरे सहायक हुए हैं जिनके नामों-  
में खेल मात्रसे में कृतज्ञता प्रकाशित करना नहीं चाहता।  
उनकी आदरणीय स्मृति मेरे हृदयमें अखंड रहेगी।

पाठकोंके प्रति एक मेरी सूचना है। वह यह कि इस  
निबंधमें अनेक शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द आये हैं। खास-  
कर अन्तिम भागमें जैन-पारिभाषिक शब्द अधिक हैं, जो  
बहुतोंको कम विदित होंगे उनका मैंने विशेष खुलासा नहीं  
किया है, पर खुलासावाले उस उस ग्रन्थके उपयोगी  
स्थलोंका निर्देश कर दिया है, जिसमें विशेषजिज्ञासु मूल-  
ग्रन्थद्वारा ही ऐसे कठिन शब्दोंका सुलासा कर सकेंगे।

[ ६७ ]

अगर यह संक्षिप्त निर्बंध न होकर खास पुस्तक होती तो  
इसमें विशेष खुलासोंका भी अवकाश रहता ।

इस प्रवृत्तिके लिये मुझको उत्साहित करनेवाले गुजरात  
पुरातन्त्र संशोधन मंदिरके मंत्री परीख रसिकलाल छोटालाल  
हैं जिनके विद्याप्रेमको मैं नहीं भूल सकता ।

संबन्ध १९७८ पौष  
वदि ५  
भावनगर.

लेखक—  
सुखलाल संघर्षी.





॥ अर्हम् ॥

न्यायाम्भोनिधि—श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः

श्रीमद्—व्यासर्थप्रणीतभाष्यांशसहितं  
भगवत्पतंजलिमुनिविरचितं

## पातञ्जलयोगदर्शनम् ।

( न्यायविशारद—न्यायाचार्य—श्रीमद्यशोविजयवाचकवरविहितया  
ज्ञेनमतानुसारिण्या लेशब्याख्ययोपवर्धितम् )

—→○←—

ऐं नमः ॥ ऐन्द्रद्युन्दनतं नत्वा वीरं सूत्रानुसारतः ।  
वद्ये पातञ्जलस्यार्थं साक्षेपं प्रक्रियाश्रयम् ॥ १ ॥

### अथ योगानुशासनम् ॥ १-१ ॥

तस्य ( संप्रज्ञातामंप्रज्ञातातस्यपद्विधयोगस्य ) लक्षणाभिधि-  
त्स्येदं सत्रं प्रवृत्ते—

### योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १-२ ॥

भाष्यम्—सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्या-  
ख्यायते । चित्तं हि प्रम्भ्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम् ।

प्रख्यातुं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टर्षयविषयग्रियं  
भवति। तदेव तमसानुविद्वधर्मज्ञानावैराग्यानेश्वर्योपगं भवति।  
तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रदोत्तमानमनुविद्वं रजोमात्रया  
धर्मज्ञानवैराग्येश्वर्योपगं भवति। तदेव रजोलेशमलापेतं  
स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेवध्यानोपगं  
भवति। तत् परं प्रसङ्गायानमित्याचक्षते ध्यायिनः। चितिश-  
क्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च;  
सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिः इन्य-  
तस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि। तदवस्थं  
मंस्कारोपगं भवति। स निर्बीजः समाधिः। न तत्र किञ्चित्  
मंप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः।

(१०) सर्वशब्दाप्रदेहेऽप्यर्थात्क्लाभादभ्यासिः संप्रज्ञा इ इति  
“क्लिप्तचित्तवृत्तिनिरोधो योगः” इति लक्षणं सम्यग्, यदा  
“समितिगुप्तिसाधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्” इति  
वृत्तस्माकमाचार्याः। तदुक्तम्—“मुक्खेण जोयणाओ जोगो  
मव्यो वि धम्मवावारो” [ योगविशिका, गा० १ ]

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ १-३ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ १-४ ॥

१ सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं चित्तं धर्ममेव रथन्तं।  
२ विवेकख्यातेः बोधकमेतत्पदम् ॥

वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ १-५ ॥  
 प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ १-६ ॥  
 तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ १-७ ॥  
 विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ १-८ ॥  
 शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ १-९ ॥  
 अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १-१० ॥  
 अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ १-११ ॥

भाष्यम्—किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्व-  
 द्विषयस्य ? इति । ग्राहोपरक्तः प्रत्ययो ग्राद्यग्रहणोभयाकारनि-  
 र्मासः तथाजातीयकं संस्कारमारभते । संस्कारः स्वव्यञ्ज-  
 काञ्जनः तदाकारामेव ग्राद्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जन-  
 यति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वी वृद्धिः, ग्राद्याकारपूर्वी स्मृतिः । सा-  
 च द्वयी-भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च । स्वमे भावि-  
 तस्मर्तव्या । जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति । सर्वाः स्मृतयः  
 प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्प्रभवन्ति । सर्वा-  
 ंश्चता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः, सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु  
 व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः । दुःखानुशयी द्वेषः । मोहः

पुनरविद्येति। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः । आसां निरोधे  
सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति ।

(य०) अत्र विकल्पः शब्दान्नाऽखण्डालीकनिर्भासोऽसत्त्व्या-  
त्यसिद्धेः, किन्तु “असतो गतिं गिसेहो” इत्यादि भाष्यकृद्वच-  
नात्खण्डशःप्रसिद्धपदार्थानां संसर्गरोप एव, अभिन्ने भेदनिर्भासा-  
दिस्तु नयात्मा प्रमाणैकदेश एव । निद्रा तु सर्वा नाऽभावालम्बना,  
स्वप्ने करितुरगादिभावानामपि प्रतिभासनान् । नापि सर्वा मिथ्यैव,  
संवादिस्वप्रम्यापि वहुशो दर्शनान् । म्भुतिरप्यनुभूते यथार्थतत्त्वा-  
स्यधर्मावगाहिनी, संवादविसंवादाभ्यां द्वैविध्यदर्शनाद्, इति तिम्भु-  
णामुत्तरवृत्तीनां द्वयोरेव यथायथमन्तर्भावात् पञ्चवृत्त्यभिधाने  
स्वमन्वितप्रपञ्चार्थम् । अन्यथा चयोपशमभेदादसङ्घश्चेदानामपि  
संभवात्, इत्यार्हतस्मिद्वान्तपमार्थवेदिनः ।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तत्त्विरोधः ॥ १-१२ ॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १-१३ ॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो

दृढभूमिः ॥ १-१४ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवित्तणस्य वशीकारसंज्ञा  
वैराग्यम् ॥ १-१५ ॥

तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १-१६ ॥

भाष्यम्—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषः दर्शनाभ्यासात्च्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति । तद्द्वयं वैराग्यम् । तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम् । तस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते—ग्रासं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः क्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्याविच्छेदाज्ञनित्या मियते मृत्वा च जायत इति । ज्ञानस्यैव परा काष्ठा वैराग्यम् । एतस्यैव हि नान्तरीयकं केवल्यमिति ।

(य०) विषयदोषदर्शनजनितमापातधर्मसन्याससलक्षणं प्रथमम्, सतत्त्वविन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीयापूर्वकरणभावितान्विकधर्मसन्याससलक्षणं द्वितीयं वैराग्यम्, यत्र क्षायोभशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्तम्यन्ते इत्यस्माकं सिद्धान्तः ॥

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमा—

त्संप्रज्ञातः ॥ १-१७ ॥

अथासंप्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंम्वभावो वा इति.

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १-१८ ॥

भाष्यम्—सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधवित्तस्य

---

१ ‘पुरुषदर्शनाभ्या’ इत्यपि ।

[ ६ ]

समाधिरसंप्रज्ञातः । तस्य परं वैराग्यमुषायः । सालम्बनो  
ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक  
आलम्बनीक्रियते, स चार्थशून्यः । तदभ्यासपूर्वं चित्तं निरा-  
लम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बाजः समाधिरसंप्रज्ञातः॥

(य०) द्विविधोऽत्ययं अध्यात्मभावनाध्यानसमतावृत्तिज्ञयमे-  
देन पञ्चधोक्तस्य योगस्य पञ्चममेदेऽवतरति । वृत्तिज्ञयो ह्यात्मनः  
कर्मसंयोगयोग्यतापगमः, स्थूलसूक्ष्मा ह्यात्मनश्चेष्टा वृत्तयः, तासां  
मूलहेतुः कर्मसंयोगयोग्यता, सा चाकरणनियमेन ग्रन्थिमेदे उत्कृ-  
ष्टमोहनीयबन्धवच्छेदेन तत्तद् एस्थाने तत्तत्प्रकृत्यात्यन्तिकबन्ध-  
व्यवच्छेदस्य हेतुना क्रमशो निर्वर्तते । तत्र पृथक्त्ववितर्कसविचार-  
रैकत्ववितर्काविचाराख्यशुल्कध्यानमेदद्वये संप्रज्ञातः समाधिर्वृत्त्य-  
र्थानां सम्यग्ज्ञानात् । तदुक्तम—“ समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञा-  
तोऽभिधीयते । सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥ १ ॥ ”  
( ४१८ यो. वि. ) निर्वितर्कविचारानन्दास्मितानिर्भासस्तु पर्या-  
यविनिर्मुकशुद्धद्रव्यध्यानाभिप्रायेण व्याख्येय(यः), यन्नयमालम्बयो-  
क्तम—“ का अर्द्दे के आण्डे ? इत्थं पि अग्गहे चरे ” इत्यादि ।  
ज्ञपकश्रेणिपरिमाप्तौ केवलज्ञानलाभस्त्वसंप्रज्ञातः समाधिः, भाव-  
मनोवृत्तीनां प्राह्यप्रहणाकारशास्त्रिनीनामवप्रहादिकमेण तत्र सम्य-  
क्परिज्ञानाभावात् । अत एव भावमनसा संज्ञाऽभावाद् द्रव्यमनसा

---

१ आचाराङ्ग १-३-३ पृ. १५ का अरतिः क आनन्दः ?  
अत्रापि अप्रहश्चरेत् ।

च तत्सद्गावाकेवली नोसंज्ञोत्युच्यते । तदिदमुकं योगाविन्दौ—  
 “ असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयिते परैः । निरुद्धाशेषवृत्त्यादि-  
 तस्वरूपानुवेधतः ॥१॥ धर्ममेघोऽमृतात्मा च भवशत्रुः शिवोदयः।  
 सन्त्वानन्दः परश्चेति योज्योऽत्रैवार्थयोगतः ॥२॥ ” (४२०-२१)  
 इत्यादि । संस्कारशेषत्वं चात्र भवोपाप्राहिकर्मशरूपसंस्कारपेक्षया  
 व्याख्येयम् , मतिज्ञानभेदस्य संस्कारस्य तदा मूलत एव विनाशात् ।  
 इत्यमन्मतनिष्कर्ष इति दिक् । प्रकृतं प्रस्तृयते—

य खल्वयं द्विविधः, उपायप्रत्ययो भवप्रन्ययश्च । तत्रो-  
 पायप्रत्ययो योगिनां भवति ॥

**भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १-१६ ॥**

भाष्यम्—विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः । ते हि स्वसं-  
 स्कारमात्रो पगतेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कार-  
 विपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति । तथा प्रकृतिलयाः साधि-  
 कारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावत्त्र  
 पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥

(य०) उपशान्तमोहत्वेनोक्तानां लवसप्रमानां ज्ञानयोगस्व-  
 समाधिमधिकृत्येदं प्रब्रुत्तम् । एत [दम्म] न्मतम् ॥

**श्रद्धावीर्यसमृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक  
 इतरेषाम् ॥ १-२० ॥**

१ ‘ मात्रोपयोगेन ’ इत्यपि.

[ = ]

तत्राधिमात्रोपायानाम्—  
 तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ १-२१ ॥  
 मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ १-२२ ॥  
 ईश्वरग्रणिधानाद्वा ॥ १-२३ ॥  
 क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष  
 ईश्वरः ॥ १-२४ ॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ १-२५ ॥

म एषः—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १-२६ ॥

भाष्यम्—पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते म एष पूर्वेषामपि गुरुः । यथाऽस्य मर्गस्यादौ प्रकर्पगत्या मिद्वः तथातिक्रान्तमर्गादिष्वपि प्रन्येतव्यः ॥

(य०)—अत्र वयं वदामः—कालेनानवच्छेदादिकं नेश्वरस्योपास्यतावच्छेदकम् । सार्वज्ञं तु तथासंभवदपि दोषक्षयजन्यतावच्छेदकत्वेन नित्यमुक्तेश्वरसिद्धौ साक्षिभावमालम्बते । ‘नित्यमुक्त ईश्वरः’ इत्यभिधाने च व्यक्त एव वदतोऽव्याघातः, मुच्चेष्वन्धनविश्वेषार्थत्वाद्वन्धपूर्वस्यैव मात्रस्य व्यवस्थितेः, अन्यथा घटादेरपि नित्यमुक्तत्वं

दुर्निवारम् । केवलसत्त्वातिशयवतः पुरुषविशेषस्य कल्पने च केव-  
लरजस्तमोऽतिशयवतोरपि कल्पनापत्तिः । कथं चैवमात्मत्वावच्छेदे-  
देनानादिसंसारसंबन्धनिमित्ततोपपत्तिः ? । ईश्वरातिरिक्तात्मवेन  
तथात्वकल्पने च गौरवम् । केवलसत्त्वोत्कर्षवद्वद्वपुरुषकल्पने च  
नित्यज्ञानाद्याश्रयो नैयायिकाद्यभिमत एव स किं न कल्पयते ?,  
तस्मात्सकलकर्मनिर्मुके सिद्ध एव भवतीश्वरत्वं युक्तम्, उपासनौप-  
यिककेवलज्ञानादिगुणानां तत्रैव संभवान् । अनादिशुद्धत्वश्रद्धापि  
प्रवाहोपेक्षया तत्रैव पूरणीया । यदाहुः श्रीहरिभद्राचार्याः—“एसो  
अणाइमं चिय सुद्धो य तथो अणाइसुद्धो च्च । जुत्तो य पवाहेण  
ण अन्नहा सुद्धया सम्म ॥ १ ॥” ( अनादिविंशिका. २२ )  
सिद्धानामनेकत्वात् “एक ईश्वरः” इति श्रद्धा न पूर्यन इति  
चतु, न, सिद्धेतरवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोग्यतिशयतत्त्वस्यैकत्वस्य  
सिद्धानामनेकत्रेऽयबाधात्सद्धयास्त्वस्यैकत्वस्य चाप्रयोजकत्वान् ।  
गम्यतां वा समष्टयेक्षया तदपि, गम्यपास्तित्वसात्तरयासितत्वयोर-  
विनिर्भागवृत्तित्वस्य सार्वत्रिकत्वान् । जगत्कर्तुः सर्वथैकस्य पुरुष-  
स्याभ्युपगमे च जगत्कारणस्य शरीरस्यापि बलादापत्तिः, कार्यत्वे  
सकर्तुकत्वस्येव शरीरजन्यत्वस्यापि न्यासेरभिभातुं शक्यत्वादिति ।  
तस्य च सिद्धस्य भगवत ईश्वरस्यानुग्रहाऽपि योगिनोऽपुर्वन्धका-  
द्यवस्थोचितसदाचारलाभ एव, न त्वनुजिघृक्षास्तस्या रागमूप-  
त्वान्, तस्य च द्वेषसहचरित्वात्, रागद्वेषवत्प्रेरतरवदनाराध्यत्वा-  
दिति संक्षेपः ॥ प्रकृतम्—

[ १० ]

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १-२७ ॥

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १-२८ ॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च । १-२९।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-  
दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त-  
विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ १-३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप-  
सहभुवः ॥ १-३१ ॥

तत्प्रातिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ १-३२ ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-  
विषयाणां भावनातश्चित्प्रसादनम् ॥ १-३३ ॥

भाष्यम्—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगाप्नेषु मैत्रीं भाव-  
येत् । दुःखितेषु करुणां, पुण्यात्मकेषु मुदितां; अपुण्यशीले-  
षुपेक्षाम् ।

(य०)—अस्मदाचार्यास्तु—“परहितचिन्ता मैत्री परदुःखविना-  
शिनी तथा करुणा । परसुखतुष्टिमुदिता परदोषोपेक्षणमुपेक्षा  
॥ १ ॥” इति लक्षणित्वा “उपकारिस्वजनेतरसामान्यगता

चतुर्विंधा मैत्री । मोहासुखसंवेगाऽन्यहितयुता चैव करणा तु  
 ॥ २ ॥ सुखमात्रे सद्देतावनुबन्धयुते परे च मुदिता तु । करणा  
 तु बन्धनिवेदतन्वसारा ह्यपेक्षेति ॥ ३ ॥ ” इति भेदप्रदर्शनपूर्व  
 “ एताः खल्वभ्यासात् क्रमेण वचनानुसारिणां पुंसाम् । सद्गु-  
 नानां सततं श्राद्धानां परिणमन्त्युच्चैः ॥ ४ ॥ ” इति परिकर्म-  
 विधिमाहुः । तन्वमत्रत्यमम्त्कृतपोडशकटीकायाम् । प्रकृतम्—  
**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ १-३४ ॥**

भाष्यम्—कौश्यम्य वायोर्नामिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेष-  
 पादमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामः, ताभ्यां मनसः  
 अथिति संपादयेत् ॥

(य०)—अनैकान्तिकमेतत्, प्रसद्य ताभ्यां मनो व्याकुली-  
 भावात् “ ऊसासं ण णिरुभइ ” ( आवश्यकनिर्युक्ति १५१० )  
 इत्यादि पारमर्थेण तत्रिवेधाच, इति वयम् ॥

**विषयवती वा प्रवृत्तिमृत्यन्ना मनसः स्थितिनि-  
 बन्धनी ॥ १-३५ ॥**

विशेषोका वा ज्योतिष्मती ॥ १-३६ ॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ १-३७ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ १-३८ ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ १-३९ ॥

परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ १-४० ॥

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु  
तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ १-४१ ॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का  
समापत्तिः ॥ १-४२ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा  
निर्वितर्का ॥ १-४३ ॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया  
व्याख्याता ॥ १-४४ ॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ १-४५ ॥

ता एव सर्वीजः समाधिः ॥ १-४६ ॥

भाष्यम्—ताः चतस्रः समापत्तयो वहिर्वस्तुवीजा इति  
समाधिरपि सर्वीजः। तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः  
सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचारः स चतुर्धोपसंख्यातः समा-  
धिरिति ॥

(य०)—पर्यायोपरक्तानुपरक्तस्थूलसूक्ष्मद्रव्यभावनारूपाणा-  
मेतासां शुक्लध्यानजीवानुभूतानां चित्तैकाङ्गकारिणीनामुपशान्त-

मोहापेक्षया सर्वोजत्वम्, क्षीणमोहापेक्षया तु निर्बोजत्वमपि स्थान  
इति त्वार्हतसिद्धान्तरहस्यम् ॥

निर्विचारवैशारद्योऽध्यात्मप्रसादः ॥ १-४७ ॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ १-४८ ॥

सा पुनः—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्  
, ॥ १-४९ ॥

भाष्यम्— श्रुतमागमविज्ञानं तत् सामान्यविषयं, न ह्या-  
गमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम्, कस्मात् ? न हि विशेषेण  
कृतमंकेतः शब्द इति । तथाऽनुमानं सामान्यविषयमेव, यत्र  
प्राप्तिस्तत्र गतिः, यत्राप्राप्तिस्तत्र न भवति गतिरित्युक्तम्  
अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः । तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो  
न विशेषः कथिद्वस्ति इति । न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविग्रह-  
ष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणम्, न चास्य विशेषस्या-  
प्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिग्रीष्य एव स विशेषो  
भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा । तस्माच्छ्रुतानुमान-  
प्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थन्वादिति ॥

(य०)—“संख्येव दिनगत्रिभ्यां केवलाच्च श्रुतात्पृथग् । बुधै-  
रनुभवो दृष्टः केवलाकारुण्योदयः ॥ १ ॥” इत्यस्मदुक्तलक्षणलक्षिता-

१ ज्ञानसार अष्टक २६ श्लो. १ । २ “केवलश्रुतयोः” इत्यपि.

[ १४ ]

तुभवापरनामधेया शास्त्रोक्तायां दिशि, तंदतिक्रान्तमतीन्द्रियं  
विशेषमवलम्ब्यमाना तत्त्वतो द्वितीयापूर्वकरणभाविसामर्थ्ययोग-  
प्रभवेण समाधिप्रज्ञा, इति युक्तः पन्थाः । प्रकृतम्—

समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो  
नवो जायते—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ १-५० ॥  
तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्नर्वाजः समाधिः ॥ १-५१ ॥

॥ इति पातञ्जले साहृद्यप्रवचने योगशास्त्रे  
समाधिपादः प्रथमः ॥

उहिएः समाहितचिन्तस्य योगः । कथं व्युत्थितचिन्तोऽपि  
यांगयुक्तः स्यात् ? इत्येतदारभ्यते—

तपःस्वाध्याये श्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ २-१ ॥

भाष्यम्—नातपस्थिनो योगः सिध्यति, अनादिकर्मक्षेत्र-  
यामनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाता चाशुद्धिर्नान्तरण तपः  
मंभेदमापद्यत इति तपस उपादानम् । तच्च चिन्तप्रसादनम-  
याधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादिपवि-  
त्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वे-  
क्रियाणां परमगुरुर्ग अर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ।

२ शास्त्रातिक्रान्तम् ।

(य०) — “वाहं तपः परमदुश्चरमाचरध्वमाध्यात्मिकस्य तपसः  
यरिवृंहणार्थम् । ” इत्यस्मर्तीयाः ॥ सर्वत्रानुष्ठाने मुख्यप्रवर्तक-  
शास्त्रमृतिद्वारा तदादिप्रवर्तकपरमगुरोद्दये निधानमीश्वरप्रणिधा-  
नम् । तदुक्तम्—“ अस्मिन् हृदयस्ये सति हृदयस्थस्तन्वतो मुनीन्द्र  
इति । हृदयस्थिते च तस्मिन् नियमात्पर्वार्थसंसिद्धिः ॥ ? ॥ ”  
इत्यादि, इत्यस्मन्मतम् ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २-२ ॥  
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ २-३ ॥  
अविद्या क्लेत्रमुत्तरेषां प्रसुपतनुविच्छिन्नोदारा-  
णाम् ॥ २-४ ॥

भाष्यम्—अत्राविद्या क्लेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेपामस्मिता-  
दीनां चतुर्विकल्पितानां प्रसुपतनुविच्छिन्नोदाराणाम् । तत्र का  
प्रसुप्तिः ? केवलि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां वीजभावोपगमः,  
तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः, प्रत्ययानवतो दग्ध-  
क्लेशवीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासा पुनरस्ति, दग्ध-  
वीजस्य कुतः प्ररोह इति । अतः क्वीणक्लेशः कुशलश्वरमदेह  
इत्युच्यते । तत्रैव सा दग्धवीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था,  
नान्यत्रेति । मतां क्लेशानां तदा वीजसामर्थ्यं दग्धमिति  
विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोधः इत्युक्ता  
प्रसुप्तिदग्धवीजानामप्ररोहश्च । दनुत्वमुच्यते—प्रतिपक्षभावनो-

पहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति । तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन  
तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः । कथं ?  
रागकाले क्रोधम्यादर्शनात् । न हि रागकाले क्रोधः समुदा-  
चरति । रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति । नैकस्यां  
स्त्रियां चैत्रो रक्त इति अन्यासु स्त्रीषु विरक्तः, किन्तु तत्र रागो  
लब्धवृत्तिः, अन्यत्र भविष्यद्वृत्तिरिति स हि तदा प्रसुप्तनु-  
विच्छिन्नां भवति । विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः, सर्व  
एवैते क्लेशविपयन्वं नातिक्रामन्ति । कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्त-  
स्तनुरुदारो वा क्लेशः ? इति, उच्यते—सत्यमेवैतत्, किन्तु  
विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वं, यथैव प्रतिपक्षभावनातो  
निवृत्तम्तथैव म्बव्यञ्जनेनाभिव्यक्त इति सर्व एवैते क्लेशा  
अविद्याभेदाः । कस्मात् ? सर्वेषु अविद्यैवाभिस्थवते । यद-  
विद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशाः, विपर्यासप्रन्यय-  
काले उपलभ्यन्ते, क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति ॥

(य०)—अत्राविद्यादयो मोऽनीयकर्मण औदयिकभावदि-  
शेषाः । तेषां प्रसुपत्वं तज्जनककर्मणोऽवाधाकालापि त्वयेण  
कर्मनिषेकाभावः । तनुत्वमुपशमः क्षयोपशमो वा । विच्छिन्नत्वं  
प्रतिपक्षप्रकृत्युदया॥दिनाऽन्तरितत्वम् । उदारत्वं चोदयावलिकाप्राप्त-  
त्वम्, इत्यवसेयम् ॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म-  
रूपातिराविद्या ॥ २-५ ॥

भाष्यम्-अनित्यकार्ये नित्यख्यातिः, तदथा-ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकसः इति । तथा<sup>३</sup>शुचौ परमबीमन्त्से काये-“ स्थानाद्वीजादुपष्टम्भान्तिः-स्यन्दान्तिधनादपि । कायमाधेयशौचत्वात्परिडता शुचुचिं विदुः ॥ १ ॥ ” इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते । नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भिन्ना निःसुतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति, कस्य केनाभिसंबन्धः? भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति । एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययः, तर्थवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातिः । तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति, “ परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गु-णवृन्तिविरोधाच्च दुःखेव सर्वं विवेकिनः ” [ २. १५. ] इति, तत्र मुखख्यातिरिविद्या । तथा<sup>३</sup>नात्मन्यात्मख्यातिः-बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषो-पकरणे वा मनसि अनात्मन्यात्मख्यातिरिति । तर्थैतदन्य-त्रोक्तम्-“ व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनु नन्दत्यात्मसंपदं मन्वानः, तस्य चापदमनु शोच-त्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोप्रतिबुद्धः ” इति । एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य द्वेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति । तस्याश्रामित्रागोष्ठदवद्वस्तुसतत्वं विज्ञेयम् । यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किंतु तद्विरुद्धः

सपत्नः । यथा वाऽगोष्ठदं न गोष्ठदभावो न गोष्ठदमात्रं  
किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम् । एवमविद्या न  
प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरम-  
विद्येति ॥

**द्वद्विर्दर्शनशक्त्वोरेकात्मतेवास्मिता ॥ २-६ ॥**

भाष्यम्—पुरुषो द्वक्षक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेक-  
स्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते । भोक्तुभोग्यशक्त्योग्त्य-  
न्तविभक्त्योरन्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्रापाविव सत्यां भोगः  
कल्पते । स्वरूपप्रतिलिम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति, कुतो  
भोगः ? इति । तथा चोक्तम्—“बुद्धितः परमपुरुषमाकारशी-  
लविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेनेति” ॥

**सुखानुशयी रागः ॥ २-७ ॥**

भाष्यम्—सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने  
वा यो गर्द्दस्तुष्णा लोभः स राग इति ॥

**दुःखानुशयी द्वेषः ॥ २-८ ॥**

भाष्यम्—दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने  
वा यः प्रतिधीं मन्युजिधांसा क्रोधः स द्वेषः ॥

**स्वरसवाही विदुषोऽपि तयारूढोऽभिनिवेशः ॥ २-९ ॥**

भाष्यम्—सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति,  
“मा न भूवं, भूयासम्” इति । न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैपा भ-  
वत्यात्माशीः । एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते । स चाय-

मभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षा-  
नुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छ्रेददृष्ट्यात्मकः पूर्वज-  
न्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति । यथा चायमत्यन्तमूढेषु  
दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः,  
कस्मात् ? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानु-  
भवादियं वासनेति ॥

(य०) — अत्राविद्या स्थानाङ्गोकं दशविधं मिथ्यात्वमेव । अस्मि-  
ताया अदृश्ये (अदृश्ये) हगारोपस्त्वे चानन्तर्भावः (?) । बौद्धदृश्यह-  
र्णक्यापत्तिस्वीकारे तु हैषिवादसृष्टिवादापत्तिः (?) । अहङ्कारमम-  
कारवैज्ञप्तत्वे तु रागद्वेषान्तर्भाव इति । रागद्वेषौ कषायभेदा एव ।  
अभिनिवेशश्चोदाहृतोऽर्थते भयसंज्ञात्मक एव, स च संज्ञान्त-  
र्गोऽलक्षणम्, विदुषोऽपि भय इवाहारादावप्यभिनिवेशदर्शनात् ।  
केवलं विदुषा (योऽप्रमत्तातादशायां दशसंज्ञाविष्कम्भणं न कथि-  
दयमभिनिवेशः) । संज्ञा च मोहाभिनिवेशः, संज्ञा च मोहाभव्यक्त-  
चतन्यमिति सर्वेऽपि क्लेशा मोहप्रकृत्युदयजभाव एव, अत एव क्लेश-  
क्षये कैवल्यसिद्धिः, मोहक्षयस्य तद्देतुत्वात् इति पारमर्षग्रहस्यम् ॥

---

१ स्थानाङ्गसूत्रे १० स्थाने । २ अस्मिताया अपि दृश्ये हगारोप-  
स्त्वे दृशि वा दृश्यारोपस्त्वे मिथ्यात्र एवान्तरभावः । आरोपा-  
नङ्गीकारे ‘बौद्धदृश्य’ इत्यादिना हैषिसृष्टिवादापत्तिदोषः । (हैषिसृष्टि-  
वादप्राक्यालेशस्तु अद्वैतसिद्धिपृ० ५३३ । ‘मिद्वान्तलेश’ परिच्छ्रेद  
२ श्लो. ४० आदिषु द्रुतिः) । ३ ‘हैषिसृष्टिवाद’ इति स्थान् ।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ २-१० ॥

भाष्यम्—ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधि-  
कारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥

(य०)—क्वाणमोहसंबन्धियथाख्यातचारित्रहेया इत्यर्थः ॥

स्थितानां तु बीजभावोपगतानां—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ २-११ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥२-१२  
सति मूले तद्विपाको जात्यायुभोगाः ॥ २-१३ ॥

भाष्यम्—सत्त्वु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति,  
नोच्छब्दक्लेशमूलः । यथा तु पावनद्वाः शालितण्डुला अदग्ध-  
बीजभावाः प्ररोहसमर्थाः भवन्ति, नापनीततुपा दग्धबीज-  
भावा वा, तथा क्लेशावनद्वः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति,  
नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावां वेति । स च  
विपाकस्त्रिविधो जातिरायुभोग इति । तत्रेदं विचार्यते-किमेकं  
कर्मकस्य जन्मनः कारणम् ? अर्थकं कर्मानेकं जन्मात्मिप-  
तीति ? । द्वितीया विचारणा-किमनेकं कर्मानेकं जन्म  
निर्वर्तयति ? अर्थानेकं कर्मकं जन्म निर्वर्तयति ? इति । न  
तावदेकं कर्म एकस्य जन्मनः कारणम्, कस्मात् ? अनादि-  
कालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः सांप्रतिकस्य च  
फलक्लमानियमात् अनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट  
इति । न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्, कस्मात् ?

अनेकेषु जन्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्य-  
वशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति ।  
न चानेकं कर्मानेकजन्मकारणम्, कस्मात् ? तदनेकं जन्म  
युगपन्न भवतीति क्रमेण वाच्यम्, तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः ।  
तस्माजन्मप्रायणान्तरे क्रुतः पुरुषापुरुषकर्माशयप्रचयो  
विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्तः  
एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य सम्मूर्च्छित एकमेव जन्म करोति,  
तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति । तस्मिन्नायुषि  
तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति । असौ कर्माशयो जन्मा-  
युर्भोगहेतुत्वात्रिविपाकोऽभिधीयते । अत एकभविकः कर्माशय  
उक्त इति । दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्,  
द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वात्, नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति ।  
द्वेशकर्मविपाकानुभवनिर्मिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमू-  
र्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मन्त्यजालं ग्रन्थिभि-  
रिवाततं इत्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः । यस्त्वयं कर्माशय  
एष एवंकभविक उक्त इति । ये मंस्काराः स्मृतिहेतवस्ता  
वासनाः, ताश्वानादिकालीना इति । यस्त्वसावेकभविकः  
कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च । तत्र दृष्टजन्म-  
वेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमः, न त्वदृष्टजन्मवेदनी-  
यस्यानियतविपाकस्य । कस्मात् ? यो ह्यदृष्टजन्मवेदनी-

योऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः, कृतस्याविपक्स्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानभिति । तत्र कृतस्याविपक्स्य नाशो यथा—शुद्धकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य । यत्रेदमुक्तम्—“ हे हे है कर्मणी वेदितव्ये, पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति । तदिच्छस्व कर्मणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते ” । प्रधानकर्मण्यावापगमनम्, यत्रेदमुक्तम्—“सात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः म प्रत्यवर्मणः कुशलस्य नापकर्षायालम् । कस्मात् ? कुशलं हि मे वहन्यदस्ति, यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्ये करिष्यति ” इति । नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य चिरमवस्थानम्, कथमिति ? अदृष्टजन्मवेदनीयम्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य । यच्च दृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नयेन आवापं वा गच्छेत् । अभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत् समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति । तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्रित्रा दुर्जना चेति । न चोत्सर्गस्यापवादान्विवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति ॥

(य०) अत्रेदं मनाग् भीमांसामहे—“जात्यायुर्भोगा विपाकः” इत्यवधारणमनुपपत्रं, गङ्गामरणमुद्दिश्य कृतेन त्रिसन्ध्यस्तवपाठ-

दिना जनितमहृष्टं गङ्गामरणे विपच्यते इत्यस्यापि शास्त्रार्थत्वादायुष  
 इव मरणस्यापि <sup>१</sup>विपाककल्पाविरेकात् । किं च जन्म-आद-  
 क्षणसंबन्धरूपमायुःप्रतिलम्भनद्वारा [य] दि पूर्वकर्मविपाकः स्यात्  
 तदोत्तरोत्तरक्षणानामपि तथात्वारत्तिः, आयुषैव तदुपसंग्रहे च  
 जन्मनोऽपि <sup>२</sup>तैवोपसंग्रहे युक्तः, तस्माज्जन्मपदं गतिजात्यादि-  
 नामकर्मकृतजीवपर्यायोपद्धत्त्वणम् । गत्यादिभोगत्वावच्छिन्ने च  
 गत्यादिनामकर्मप्रकृतीनां पृथक्पृथकारणत्वमवश्यमेष्टयम्, अन्यथा  
 संकरापत्तेः । आयुरपि मनुष्याद्यायुभेदेन जीवनपर्यायलक्षणं चतु-  
 विधिं कलभूतं, तज्जनकमायुष्कर्माऽपि च चतुर्विधमवश्यमभ्युपग-  
 मनीयम् । भोगपदेनावशेषकर्मपृथक्कलमुपलक्षणीयम्, ज्ञानावर-  
 णादिस्त्रेषु ज्ञानावरणीयादीनां पृथक्पृथकारणत्वस्यान्वयव्यतिरेक-  
 मिद्दत्वात् । पूर्वोपरभावव्यवस्थितजन्मान्तरायिकर्मप्रचयस्य ताह-  
 शोत्तरजन्मफलभोगे हेतुत्वं तु दुर्वचम्, क्वचित्कलक्रमवैपरीत्यस्यापि  
 दर्शनाद् । बुद्धिविशेषविषयत्वैदीनां कर्मप्रचयकलप्रचयावनुगमय्य  
 हेतुहेतुमद्भावाभ्युपगमे तु घटपटादिकार्यप्रचये ऽपि दण्डवेमादीनां  
 तथा [ हेतु ] हेतुमद्भावापत्तिः । अनन्यगतिकत्वात्कर्मफलभोग-  
 स्थल एवेत्थं कल्प्यते नान्यत्रेति चेत्, न, अवगतभगवत्प्रचन-  
 रहस्यस्यानन्यगतिकत्वासिद्धेः । तथाहि—प्रारम्भवद्धमेकमेवायुष्कर्म-  
 प्रायणलघ्विपाकमेव जन्म निर्वर्तयति, कर्मान्तरणि च कानि-

१—विपाककोटिप्रविष्टत्वात् इति भावः । २ ‘तथैवोप’  
 स्यात् अथवा ‘तैवोप’ इति स्यात् । ३ ‘त्वादिना’ स्यात् ।

चित्तउजन्मनियतविषयाकानि, कानिचिन्नाना जन्मनियतविषयाकानि,  
 कानिचिदनियतविषयाकानि वा । तत्रागैर्नामगोत्रवेदनीयैः संबलित-  
 मायुर्भोप्राहिताव्यपदेशमश्रुते, यत्रान्ये प्रारब्धसंज्ञां निवेशयन्ति ।  
 एकस्मिन्भवे आयुर्द्वयस्य बन्ध उदयश्च प्रतिषिद्ध एवेति न  
 जन्मान्तरसंकरादिप्रसङ्गः । नन्दीश्वरनुषादीनानप्यायुःसंकराभ्यु-  
 पगमे जन्मसंकरो दुर्निवारः । प्रायणं विना हि नायुष्कर्मान्तरोद्भो-  
 धः । शरीरान्तरपरिणामे प्रायणाभ्युपगमे च वक्तव्यं जन्मा-  
 न्तरमिति । तस्माद्वैक्रियशरीरलाभसहरोऽयं नैकस्मिन् जन्मन्या-  
 र्गुद्वयमाच्चिपतीत्यलं मिथ्यादृष्टिसंघटेन । तस्मादेकभविकः  
 कर्माणय इति भवोपप्राहिकर्माणेत्यैव युक्तम्, नान्यथा, कर्मानु-  
 भवनिर्भितानां वासनानामनेकजन्मानुगमाभ्युपगमेऽर्थतः कर्मान्त-  
 राणां स्यैव तथोपगमात् । क्रोधादिवासनानामपि भोहनीय-  
 कर्मभावस्वरूपत्वात्, अन्यथा जातिव्यक्तिपद्योर्वासनाया दुर्नि-  
 रूपत्वादिति प्रतिपत्तव्यम् । भवोपप्राहिकर्मणोऽप्यायुष्करूप-  
 स्यैकभविकत्वे कथं सप्तजन्मविप्रत्वप्रदकर्मविषयाकोपपत्तिः ?  
 इति चेत्, देवनारकयोरेकमेव भवग्रहणं पञ्चेन्द्रियतिर्थं द्विमनुष्ययोः  
 सप्ताष्टौ भवग्रहणानि, पृथ्वीकायिकादीनामसंख्येयानि कायर्थितिः  
 इत्यादि सिद्धान्तोक्तक्रमेण तादृशगतिजातिनामकर्मादिसंचयसधी-  
 चीनतादृशनवायुःपरम्परानुबन्धान्तेयमनुपपत्तिरस्माकम् । भवतु, नै-  
 कमेव कर्म प्रारब्धतामश्रुते, किन्तु तत्त्वशर्वर्तिवह्नल्पसुखदुःखहेतु-

गुरुसंघुकर्मणामनेकेषां प्रायणकालोद्भवत्तिकानां प्रारब्धतेत्येकत्र  
जन्मनि जन्मसप्तकभोगाकर्मस्यापत्तिरेव<sup>१</sup> जन्मकृतस्य तादृशकर्म-  
प्रचयस्य प्रायणसप्तकेन “यं चापि स्मरन् भावं”(गीता.अ.८.४०.  
६.)इत्यादि स्मृत्यनुरोधेन प्रायणसप्तककालोत्पादितहेहान्तरविषया-  
न्तिमप्रत्यर्थैर्वा क्रमशो लब्धप्रारब्धताकस्य सप्तजन्मविप्रत्वोपपा-  
दकत्वाभ्युपगमे<sup>२</sup> गतमैहिकभविककर्माशयप्रतिज्ञया, एवमनन्त-  
भवविपाकिताया अपि वक्तुं शक्यत्वान् । किञ्च तस्य तज्जन्म-  
भोगप्रदत्त्वावच्छेदेन प्रारब्धत्वं तदन्यावच्छेदेन च संचितत्वं  
वान्यम् , अन्यथा तत्त्वज्ञानिनोऽपि तादृशकर्मवतो देहान्तरोप्त-  
न्यापत्तिः, संचितं हि कर्म तत्त्वज्ञाननाशयं न तु प्रारब्धम् ।  
जन्मान्तरगवच्छेदेन च तस्य संचितत्वान्तत्वज्ञानेन नाशान्नोक-  
प्रसङ्ग इति । एवं च तज्जन्मभोगप्रदत्त्वावच्छेदेन तज्जन्मप्रार-  
ब्धत्वम् , तज्जन्मप्रारब्धत्वावच्छेदेन च तज्जन्मभोगप्रदत्वमिति  
व्यक्त एवान्योऽन्याश्रयः । तस्मादायुक्तमेव प्रारब्धं तदेव च कर्मा-  
न्तरोपगृहीतं तत्तद्वभोगप्रदम् । अत एव जातिनामनिधत्तायुष्का-  
दिभेदोऽपि सिद्धान्तसिद्धः । केवलिनश्चायुरधिककर्मसत्त्वं केवलि-  
समुद्घातेन तत्समीकरणान्न काऽप्यनुपपत्तिरिति अन्यत्रायुषो नै-  
कभविकत्वनियमः कर्माशयस्य श्रद्धेयः । प्रायणमेव प्रागभवकृतकर्म-  
प्रचयोद्भोधकमित्यपि दुःशिक्षिताभिधानम् , पुद्गलजीवभवत्तेववि-

१ ‘० भोग्यकर्मविपाकस्या’ इति समीचनिम् । २  
‘० रेकजन्म’ इति शु० । ३ “ गतमिहैक-” इति ।

पाकभेदेन कर्मणां नानाविपाकत्वाद्भविविपाकयायुष्प्रकृतिविपाकस्य  
प्रायणोद्भवत्वेऽपि सर्वत्र तथा वक्तुमशक्यत्वात्। हश्यते हि निद्रा-  
दिविपाकोद्भावे कालविशेषस्यापि हेतुत्वम्, न च द्वेऽनुपपत्रं नाम,  
स्वानन्तरकर्मविपाकोद्भवारा प्रायणस्याप्रिमसंतत्युद्भावकत्वस्वी-  
कारे चातिप्रसङ्गः, नानाभवसंततिद्वाराघटनायास्तत्र तत्पूर्वं च वक्तुं  
शक्यत्वात्। प्रधानत्वमपि कर्मण एकायुष्परिग्रहं विना दुर्बचम्।  
न हेकत्र भवे नानागतियोग्यकर्मोपादानेऽन्ते इदमेव फलवदित्य-  
त्रान्धन्नियामकमस्ति, आयुस्त्वेकत्र भवे एकवारमेव बध्यत इति  
तदनुमारेणान्ते तादग्लेश्योपगमान, “यज्ञेश्यो मिथ्यते तज्ज्ञेश्येषु-  
त्पद्यते” इति प्राप्तवद्भुमायुस्तादशज्ञेश्यया विपाकप्राप्तं प्रधानी-  
भवदन्यकर्मण्युपगृह्णातीति सर्व [ सं ] गच्छत। प्रधानकर्मण्या-  
वापगमनादिकमपि “मूलप्रकृत्याभिन्नाः, संक्रमयति गुणत उत्तरा-  
प्रकृताः। नन्वात्माऽमूर्तत्वादध्यवसायप्रयोगेण ॥” इत्याद्युक्तनीत्या  
संक्रमविधिपरिज्ञानं विना न कथमप्युपपादयितुं शक्यम्, अन्यथा  
किं कुत्र संक्रमति? इति विनिगन्तुमशक्यत्वात्। तस्मादत्रयेऽस्म-  
त्कृतकर्मप्रकृतिवृत्तिं सम्यग्वलोक्य वीतरागसिद्धान्तानुरोधि कर्मा-  
शयस्वरूपं व्याख्येयमिति कृतं विस्तरेण ॥ प्रकृतं प्रस्तुमः—

ते हादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥२-१४॥

कथं ? तदुपपाद्यते—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधात्

[ २७ ]

## दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ २-१५ ॥

भाष्यम्—सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः । तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहक्तोऽप्यस्ति । तथा चोक्तम्—“ नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति हिंसा-कृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशयः ”—इति । विषयसुखं चाविद्यत्युक्तम् । या भोगेष्विन्द्रियाणां त्रैसेरुपशान्तिस्तत्सुखम्, या लौन्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम् । न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतुष्यं कर्तुं शक्यम् । कस्मात् ? यतो भोगाभ्यासमनु विवधिते रागः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति । तस्मादनुपायः मुखस्य भोगाभ्याम इति । य खल्वयं वृत्तिकविषयभीत इवाशीविषेण दद्यो यः मुखार्थी विषयाननुव्यवसितो महति दुःखपङ्क्ते मग्न इति । एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिक्षाति । अथ का ताप-दुःखता ? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः । मुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते, ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहणीडाभ्यां धर्माधर्मावृपचिनोति । स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःख-

१ “ विषयानुवासितः ” इत्यपि ।

तोच्यते । का पुनः संस्कारदुःखता ? सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति । एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्मीशयप्रचय इति । एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्भेदजयति । कस्मात् ? अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति, यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति, नान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्चन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम् । इतरं तु म्बकर्मोपहतं दुःखमुपाच्चात्मानं त्यजन्नं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविच्चित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहङ्कारममकारानुपातिनं जातं जातं वाह्यात्मिकोभयनिमित्ताख्यपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते । तदेवमनादिदुःखस्रोतसा व्युद्धमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखज्ञयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति । गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । प्रस्व्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा गुणाः परस्परानुग्रहपरतन्त्रा भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारमन्ते । चलं च गुणवृत्तिमिति चिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । रूपातिशया वृत्तितिशयात्म परस्परेण विरुद्धन्ते । सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते । एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति । गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन

इति । तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभववीजमविद्या । तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः । यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्, रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव । तद्यथा-संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति । तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः । प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः । संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हीनम् । हानोपायः सम्यग्दर्शनम् । तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं हेयं वा न भवितुमर्हति इति, हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः, उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इन्येतत्सम्यग्दर्शनम् । तदेत-च्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते ॥

(य०)--निश्चयनयमतमतद्, यदुपजीव्याह स्तुतौ मैहावादी—“भैववीजमनन्तमुज्ज्ञितं विमलज्ञानमनन्तमर्जितम् । न च हीनकलोऽसि नाथिकः समतां नाप्यतिवृत्त्य वर्तसे ॥ १ ॥” इति ॥

**हेयं दुःखमनागतम् ॥ २-१६ ॥**

तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते—  
**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥२-१७॥**

दृश्यस्वरूपमुच्यते—

१ सिद्धसेनदिवाकरः २ चतुर्थद्वात्रिंशिका श्लो. २९ ॥

३ ‘चाप्यनिवृत्त्य’ इति सुद्रिते पाठांतरं ।

[ ३० ]

**प्रकाशकियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगा-  
पवर्गार्थं दृश्यम् ॥ २-१८ ॥**

**दृश्यानां तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—  
विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि  
गुणपर्वाणि ॥ २-१९ ॥**

भाष्यम्—तत्राकाशवायवग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्प-  
र्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः । तथा श्रोत्र-  
न्वकचक्षुर्जिह्वाधारणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूष-  
स्थानि कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थमित्येतान्यस्मिता-  
लक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः, गुणानामेष पोडशको विशेष-  
परिणामः । पठविशेषाः, तद्यथा—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं  
रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चल-  
क्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः, पष्टश्चाविशेषोऽस्मितामात्र  
इति । एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः पठविशेषपरिणामाः ।  
यन्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महतत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे  
महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्टामनुभवन्ति । प्रतिसंसृज्य-  
मानाश्च तस्मिन्नेत्र सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तान्निःसत्ता-  
सत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतीयन्ति । एष तेषां  
लिङ्गमात्रः परिणामो निस्सत्तासत्तं चालिङ्गपरिणाम इति ।  
अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुर्नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषा-

थेता कारणं भवतीति नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याऽख्यायते ।  
 त्रयाणां त्ववस्याविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति ।  
 सर्वार्थो हेतुनिमित्तं कारणं भवतीन्यनित्याख्यायते । गुणस्तु  
 मर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते, व्यक्तिभिरे-  
 वातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायध-  
 र्माका इव प्रतिभासन्ते । यथा देवदत्तो दरिद्राति, कस्मात् ?  
 यतोऽस्य व्रियन्ते गाव इति गवामेव मरणात्स्य दरिद्राणं  
 न व्यरूपहानादिति समः समाधिः । लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य  
 प्रन्यासन्व तत्र तन्संस्थृष्टं विविच्यन्ते क्रमानतिवृत्तेः । तथा षट्-  
 विशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते परिणामक्रमनियमात् ।  
 तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते । तथा  
 चोक्तं पुरस्ताद्—“ न विशेषेभ्यः परं तच्चान्तरमस्ति ”—इति  
 विशेषाणां नास्ति तच्चान्तरपरिणामः । तेषां तु धर्मलक्षणा-  
 वस्थापरिणामा व्याख्यास्यन्ते ॥

(य०) प्राप्तभावप्रध्वंसामारानभ्युपगमे मर्वमेतदुक्तमनुपपत्रम् ।  
 नदुक्तमुक्तुलङ्घन—“ कार्यद्रव्यमनादि स्वात्माप्रभावत्य निहेऽ ।  
 प्रध्वंसस्यापलापे तु तदेवानन्ततां ब्रजेन ॥ २ ॥ ” तदुपगमं तु  
 द्रव्यप्रर्यायोभयरूपत्वाद्वस्तुनः सर्वत्र त्रैलक्षण्येन कथंचिदेषा व्यव-  
 स्था युज्येतार्थिति वयं वदामः ॥

**इष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२-२७॥**

तदर्थं एव दृश्यस्यात्मा ॥ २-२१ ॥

कस्मात्—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारण-  
त्वात् ॥ २-२२ ॥

संयोगखरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रवृत्ते—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः  
संयोगः ॥ २-२३ ॥

यस्तु प्रत्यक्षेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २-२४ ॥

हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्,

अतः परं हानं वक्तव्यम्—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः  
कैवल्यम् ॥ २-२५ ॥

अथ हानस्य कः प्राप्युपायः ? इति—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २-२६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २-२७ ॥

सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपायः । न च सिद्धि-  
रन्तरेण साधनम् इत्येतदारभ्यते—

[ ३३ ]

योगाङ्गानुष्टानादशुच्छिक्षये ज्ञानदीसिरा विवेक-  
ख्यातेः ॥ २-२८ ॥

तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते—  
यमनियमासनप्राणादामप्रत्याहारधारणाध्यान-  
समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २-२९ ॥

अहिंसास्त्यास्त्येदब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः ॥ २-३० ॥

ते तु—  
जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा  
महाव्रतम् ॥ २-३१ ॥

भाष्यम्—तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यवन्धकस्य मत्स्ये-  
ष्वेव नान्यत्र हिंसा । सेव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति ।  
सेव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां पुण्येऽहनि हनिष्यामीति ।  
सेव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे हनिष्या-  
मीति । यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति ।  
एभिर्जीतिदेशकालसमयेरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव प्रति-  
पालनीयाः । सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविहितव्यभिचाराः  
सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते ॥

१ “ वाविदित—” इति ।

(य०)–सर्व रात्रिर्गम्भीरे तेज्जया महाब्रतानि, देराशब्दगम्भीर-  
तिज्जया चाणुब्रतानीति पुनः पारमर्षविवेकः । एकवचनं चात्र सर्व-  
प्रतिज्जया पञ्चानामपि तुल्यत्वाभिभ्यत्तर्थम् ॥

### शौचसंतोषतपःस्वाध्याये श्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २-३२ ॥

भाष्यम्—तत्र शौचं मृजलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि  
च बाधम् । आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम् ।

(य०)–भावरौचानुशरोधयेव द्रव्यशौचं बाधमादेयमिति  
तत्त्वदर्शिनः ॥

एतेषां यमनियमानाम्—

वितर्कवाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ २-३३ ॥  
वितर्का हिंसादायः कृतकारेतानुमोदिता लोभ-  
क्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञा-  
नानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ २-३४ ॥

प्रतिपक्षभावनाद्वेतोहेया वितर्का यदा स्युरप्रसवधर्माण-  
स्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति, तद्यथा—  
अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्त्रिवौ वैरत्यागः ॥ २-३५ ॥  
सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २-३६ ॥

[ ३५ ]

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ २-३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ २-३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ २-३९ ॥

शौचात् स्वाह्नजुगुप्ता परैरसंसर्गः ॥ २-४० ॥

किञ्च—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाश्र्योन्द्रियजयात्मदर्शन-  
योग्यत्वानि च ॥ २-४१ ॥

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ २-४२ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ २-४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ २-४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ २-४५ ॥

उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः । आसनादीनि  
वक्ष्यामः । तत्र—

स्थिरसुखमासनम् ॥ २-४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ २-४७ ॥

ततो द्वन्द्वानाभिवातः ॥ २-४८ ॥

[ ३६ ]

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः  
प्राणायामः ॥ २-४९ ॥

स तु—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः  
परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ २-५० ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाच्चेपी चतुर्थः ॥ २-५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ २-५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ २-५३ ॥

अथ कः प्रत्याहारः ?—

स्वविषयासम्प्रयोगे चिन्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रि-  
याणां प्रत्याहारः ॥ २-५४ ॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ २-५५ ॥

भाष्यम्—शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित् ।  
सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति । अविरुद्धा प्रतिपत्ति-  
न्याश्या । शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये । रागद्वेषाभावे  
सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित् । चित्ते-  
काग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जीर्णपव्यः । ततश्च परमा त्वियं वश्यता

यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि, नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्न-  
कृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥

(ग०) — अयुत्थानध्यानदशासाधारणं वस्तुस्वभावभावनया  
स्वविषयप्रतिपत्तिप्रयुक्तरागद्वेषस्त्वपकलानुपधानमेवेन्द्रियाणां परमो  
जयः इति तु वयम् । तथोक्तं शीतोष्णीयाध्ययने (आचाराङ्ग,  
अध्ययन ३ उद्दे० १.)—“ जस्मिमे सहा य रूपा य गंधा य  
रसा य फासा य अभिसमन्वागया भवन्ति से आयवं नाशवं  
बैयवं धम्मवं बंभवं ” इत्यादि । अत्र “ अभिसमन्वागता ” इत्यस्य  
अभीत्याभिमुख्येन मनःपरिणामपरतन्त्रा इन्द्रियविषयादत्युपयो-  
गलक्षणेन (?) समिति सम्यक्स्वरूपेण नैते इष्टा अनिष्टा वेति  
निर्धारणया अनु पश्चादागताः परिनिष्ठन्ना यथार्थस्वभावेन यस्ये-  
त्यर्थः, स आत्मवानित्यादि परस्परमिन्द्रियजयस्य फलार्थवादः ।  
अन्यत्राप्युक्तम्—“ ए सक्ता रूपमहद्वृं चक्रवृ विसयमागम्य ।  
रागदोसा उ जे तत्य ते भिक्तवृ परिवज्जए ॥ १ ॥ ” इत्यादि ।  
चित्तनिरोधादतिरिक्तप्रयत्नानपेक्षत्वं तु परमेन्द्रियजये ज्ञानैकसाध्ये  
प्रयत्नमात्रानपेक्षत्वादेव निरूप्यते, तथा च सुतिकारः—“ संय-  
तानि तवा(न चा)क्षाणि न चोच्छृङ्खलितानि च । इति सम्यक्प्रति-  
पदा(य)[त्व]येन्द्रियजयः कृतः ॥ १ ॥ ” इति । न च प्राणायामा-  
दिहठयोगाभ्यासचित्तनिरोधे परमेन्द्रियजये च निश्चित उपायोऽपि,

‘ ऊसासं ण णिरुंभइ ’ [ आव० नि० १५१० ] इत्याद्यागमेन  
बोगसमाधानविश्वलेन बहुलं तस्य निषिद्धत्वात् । तस्मादध्यात्म-  
भावनोपर्वद्वितीयस्मतापरिणामप्रवाही ज्ञानाल्यो राजयोग एव चित्ते-  
निद्र्य[जय]स्य परमेन्द्रियजयस्य चोपाय इति युक्तम् ॥

॥ इति पातञ्जले साङ्ख्यप्रवचने योगशास्त्रे साधननिर्देशो  
नाम द्वितीयः पादः ॥

---

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ३-१ ॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ३-२ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव  
समाधिः ॥ ३-३ ॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ३-४ ॥

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ३-५ ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ३-६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ३-७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बाजस्य ॥ ३-८ ॥

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा  
चित्तपरिणामः ।—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरो-  
धक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ३-९ ॥  
तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ ३-१० ॥  
सर्वार्थेकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य  
ततः पुनः समाधिपरिणामः ॥ ३-११ ॥  
शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यै-  
काग्रता परिणामः ॥ ३-१२ ॥  
एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा  
व्याख्याताः ॥ ३-१३ ॥

तत्र—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ ३-१४ ॥  
क्रमान्वत्वं परिणामान्वत्वे हेतुः ॥ ३-१५ ॥  
परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ ३-१६ ॥  
शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रवि-  
भागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ ३-१७ ॥  
संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ ३-१८ ॥  
प्रत्ययस्य पराचित्तज्ञानम् ॥ ३-१९ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ ३-२० ॥  
 कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशा-  
 सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ ३-२१ ॥  
 सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त-  
 ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ ३-२२ ॥  
 मैत्र्यादिषु वलानि ॥ ३-२३ ॥  
 बलेषु हस्तिवलादीनि ॥ ३-२४ ॥  
 प्रवृत्या लोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थ-  
 ज्ञानम् ॥ ३-२५ ॥  
 भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ ३-२६ ॥  
 चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ ३-२७ ॥  
 ध्रुवे तद्रत्नज्ञानम् ॥ ३-२८ ॥  
 नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ ३-२९ ॥  
 कण्ठकूपे चक्षुतिपासानिवृत्तिः ॥ ३-३० ॥  
 कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३-३१ ॥  
 मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३-३२ ॥  
 प्रातिभाद्रा सर्वम् ॥ ३-३३ ॥

[ ४१ ]

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३-३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो  
भोगः परार्थत्वात्सार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३-३५ ॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादशास्त्रादवार्ता  
जायन्ते ॥ ३-३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्ध्यः ॥ ३-३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य  
पूरशरीरप्रवेशः ॥ ३-३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्गं  
उत्क्रान्तिश्च ॥ ३-३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ३-४० ॥

ओत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्विव्यं श्रोत्रम् ॥ ३-४१ ॥

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाज्ञायुतूलसमापत्तेश्वा-  
काशगमनम् ॥ ३-४२ ॥

घहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशा-  
वरणक्षयः ॥ ३-४३ ॥

[ ४२ ]

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमान्त्रूत-  
जयः ॥ ३-४४ ॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मा-  
नभिधातश्च ॥ ३-४५ ॥

रूपलावण्यबलवज्जसंहननत्वानि काय-  
संपत् ॥ ३-४६ ॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रिय-  
जयः ॥ ३-४७ ॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान-  
जयश्च ॥ ३-४८ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं  
सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ३-४९ ॥

तद्वेराग्यादपि दोषवीजक्षये कैवल्यम् ॥३-५०॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सहस्रस्याकरणं पुनरनिष्ट-  
प्रसङ्गात् ॥ ३-५१ ॥

खण्टतत्कमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥३-५२॥

तस्य विषयविशेष उपचिष्ठते—

[ ४३ ]

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदानुल्ययोस्ततः  
प्रतिपत्तिः ॥ ३-५३ ॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति  
विवेकजं ज्ञानम् ॥ ३-५४ ॥

प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥३-५५॥

भाष्यम्—यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्या-  
न्यताप्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य  
शुद्धिसारूप्यमिवापनं भवति । पुरुषस्योपचारितभोगाभावः  
शुद्धिः । एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवति ईश्वरस्यानीश्वरस्य  
वा विवेकजज्ञानभागिनः इतरस्य वा । न हि दग्धक्लेशबीजस्य  
ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति । सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्यं  
ज्ञानं चोपक्रान्तम् । परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते,  
तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः, क्लेशाभावात् कर्मविषयाका-  
भावः । चरिताधिकाराशैतस्यामवस्थायां गुणाः न पुनर्दृश्य-  
त्वेनोपतिष्ठन्ते । तत् पुरुषस्य कैवल्यं, तदा पुरुषः स्वरूपमा-  
त्रज्योतिरमलः केवली भवतीति ॥

(य०)—अत्रेदं चिन्त्यम्—ऐश्वर्यं लघिरूपं न समाधिरूप-  
संयमजन्यं, वैचित्र्यप्रतियोगिनस्तस्य विचित्रक्षयोपशमादिजन्य-  
त्वात् । एकत्र त्रयरूपस्य च संयमस्य चित्तस्थैर्यं एवोपयोगो

बाहुल्येन, आत्मद्रव्यगुणपर्यायगुणस्य [रूपस्य] च तस्य शुक्लध्या-  
नशरीरघटकसया कैवल्यहेतुत्वमपि। ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेक-  
ज्ञानवतस्तदभाववतो[वा] “सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्”  
इत्यप्ययुक्तम्, विवेकजं केवलज्ञानमन्तरेणोक्तशुद्धिसाम्यस्यैवानु-  
पत्तेः। “दग्धक्लेशशब्दीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा नास्ति” इत्युक्ते-  
निर्युक्तिकत्वादात्मदर्शनप्रतिबन्धकस्यैव कर्मणः केवलज्ञानप्रतिबन्ध-  
कत्वेन तदपगमे तदुत्पत्तेरवर्जनीयत्वान्तिष्ठयोजनस्यापि फल-  
रूपस्य तस्य स(स्व)स्वसामग्रीसिद्धत्वान्। न हि प्रयोजनज्ञतिभिया  
सामग्रीकार्यं नार्जयतीति। तदिदमुक्तम्—“क्लेशपर्किर्मतिज्ञानात्र  
किञ्चिदपि केवलान्। तमःप्रचयनिःशेषविशुद्धिप्रभवं हि तन्  
॥ १।” इति गुणविशेषजन्यत्वेऽयात्मदर्शनवन्मुक्तौ तस्याव्यभि-  
चारित्वं तुल्यम्। वस्तुतो ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वं स्वभावः, छङ्ग-  
स्थस्य च विचित्रज्ञानावरणेन स प्रतिबन्ध्यत इति। निःशेषप्रति-  
बन्धकापगमे ज्ञाने सर्वविषयकत्वमावश्यकम्। तदुकं—“ज्ञो ज्ञेये  
कथमङ्गः स्यात् असनि प्रतिबन्धरि। दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यान् कथम-  
प्रतिबन्धकः”॥ ( योगविन्दु. ४३१. ) इति। एतेन विवेकजं  
सर्वविषयकं ज्ञानमुत्पन्नमपि सत्त्वगुणत्वेन निवृत्ताधिकारायां  
प्रकृतौ प्रविलीयमानं नात्मानमभिस्थृतात्यात्मार्थशून्यनिर्विकल्प-  
चिद्रूप एव मुक्तौ व्यवतिष्ठत इत्यप्यपास्तम्। चित्तवच्छ्रेदैकस-  
र्वविषयकत्वस्वभावकल्पनाद्, अर्थशून्यायां चिति मानाभावाद्,  
विम्बरूपस्य चित्सामान्यस्याविवर्तस्य कलनेऽचित्सामान्यस्यापि

तादेशस्य कल्पनापत्तेः व्यवहारस्य बुद्धिविशेषधर्मेरोपपत्तेः, यदि  
चाचित्सामान्यनिष्ठ एवाचिद्विवर्तः कल्पयते तदा तुल्यन्याया-  
चिद्विवर्तोऽपि चित्सामान्यनिष्ठ एवाभ्युपगन्तु युक्तो न तु चिदचि-  
द्विवर्ताधिष्ठानमेव कल्पयितुं युक्तं, नयादेशस्य सर्वत्र द्रव्ये तुल्यप्र-  
सरत्वान् । कौटस्थ्यं त्वात्मनो यच्छ्रुतिसिद्धं तदितरावृत्ति-  
स्वाभाविकज्ञानदर्शनोपगोगवत्त्वेन समर्थनीयम् । निर्धर्मकल्पं चितः  
कौटस्थ्यमित्युक्तौ तत्र प्रमेयत्वादेरव्यभावप्रसङ्गान्, तथा च  
“ सञ्चिदानन्दरूपं इहा ” इत्यादेरनुपपत्तिः । असदादित्यावृत्ति-  
मात्रेण सदादिवचनोपपादने च चिन्त्वमप्यचिद्व्यावृत्तिरेव स्यादिति  
गतं चित्सामान्येनापि । यदि च “ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सद् ”  
इति गुणस्थलोपदर्शितरीत्या स (इ)लक्षणं सर्वत्रोपपद्यते तदा संसा-  
रिमुक्त्योरसाङ्क्षयेण स्वविभावस्वभावपर्यायैस्तदबाधमानं बन्धमो-  
क्षादिव्यवस्थामविरोधेनोपपादयतीति, एतज्जैनेश्वरप्रवचनामृतमा-  
पीय “ उपचरितभोगभावो मोक्षः ” इत्यादि मिथ्यादग्वचनवा-  
सनाविषमनादिकालनिर्णीतमुद्भवन्तु सहदयाः । । अधिकं लतादौ ॥  
॥इति पातञ्जले साहृदयप्रवचने योगशास्त्रे विभूतिपादस्तृतीयः॥

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥४-३॥

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम्—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ ४-२ ॥

(य०) — द्रव्यपर्यात्मनैवाध्वत्रयसमावेशो युज्यते नान्यथा, निमित्तस्वरूपभेदस्य परेणाप्यवश्याश्रयणीयत्वात् । तथा चाभूत्वा भावाभावयोरपि पर्यायद्रव्यस्वरूपाभ्यां स्याद्वाद एव युक्तोऽन्यथा प्रतिनियतवचनव्यवहाराद्यनुपत्तेरिति तु अद्वेयं सचेतसा ॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ ४-१३ ॥

यदा तु सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति—  
परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ ४-१४ ॥

भाष्यम्—प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियम्, ग्राह्यात्मकानां शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति, शब्दादीनां मूर्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथ्वीपरमाणुस्तन्मात्रावयवस्तेपां चैकः परिणामः पृथ्वी गौः वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौषण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः ॥

(य०) — एकानेकपरिणामस्याद्वादभ्युपगमं विना दुःश्चानमेतत् ॥

कुतश्चेतदन्याश्यम् ?—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥४-१५॥

[ ४६ ]

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा  
किं स्यात् ॥ ४-१६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् । ४-१७  
यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य—  
सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरि-  
णामित्वात् ॥ ४-१८ ॥

भाष्यम्—यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत तदा तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवद् ज्ञाताज्ञाताः स्युः । सदा-ज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति ॥

(य०) —ज्ञानरूपस्य चित्तस्यात्मनि धर्मितापरिणामः सदा सञ्चाहितत्वेन तस्य सदाज्ञातत्वेऽप्यनुपपत्रः, शब्दादीनां कादाचित्कसन्निधानेनैव व्यञ्जनावग्रहादिलक्षणेन ज्ञाताज्ञातत्वसंभवात् । अत एव केवलज्ञाने शक्तिविशेषेण विषयाणां सदा सञ्चितानादृज्ञानावच्छेदकत्वेन तेषां सदाज्ञातत्वमवाधितमिति तु पारमेश्वरप्रवचनप्रसिद्धः पन्थाः ॥ प्रकृतम्—

स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासं च भविष्यत्यग्निवत्—

---

१ ‘तत्प्रमाणकं’ इत्यपि । २ ‘पि नानुपत्रः’ इति स्यात् ।

[ ५० ]

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ ४-१९ ॥  
 एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ ४-२० ॥  
 स्यान्मतिः स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण  
 गृह्णत इति—  
 चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसं-  
 करश्च ॥ ४-२१ ॥

कथम् ?—

चित्तेरप्रतिसंक्रमाधासनदाकारापत्तौ स्वबुद्धि-  
 संवेदनम् ॥ ४-२२ ॥

अतश्चेतदभ्युपगम्यते—

द्रष्टृदृश्योपरकं चित्तं सर्वार्थम् ॥ ४-२३ ॥

भाष्यम्—मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरकं, तत्स्वयं च विष-  
 यत्वाद्विषयिणा पुरुषेणात्मीयया वृत्त्याभिभावद्वं, तदेतचित्तमेव  
 द्रष्टृदृश्योपरकं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं  
 विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकम-  
 णिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते । तदनेन चित्तसारूप्येण ग्रान्ताः  
 केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वम्, नास्ति  
 खलव्यं गवादिर्घटादित्र्य सकारणो लोक इति । अनुकम्पनी-

यास्ते । कस्मात् ? अस्ति हि तेषां भ्रान्तिवीजं सर्वरूपाकार-  
निर्भासं चित्तमिति । समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिविम्बी-  
भूतः तस्यालम्बनीभूतत्वादन्यः । म चेदर्थः चित्तमात्रं स्यात्  
कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत् । तस्मात्प्रतिविम्बीभूतोऽर्थः  
प्रज्ञायां येनावधार्यते म पुरुष इति । एवं ग्रहीतुग्रहणग्राह्यस्व-  
रूपचित्तभेदात्रयमप्येतज्ञातितः प्रविभजन्ते ते सम्यग्दर्शिनः  
तैराधिगतः पुरुष इति ॥

(य०) — चयं तु त्रूमः—अग्रिरूपात्मके प्रकाशे संयोगं  
विनाऽपि यथा स्वतःप्रकाशकत्वं तथा चैतन्येऽपि प्रतिप्राणिं  
परान्येत्तत्यानुमूलमाने, अन्यथाऽनवस्थाव्यासङ्गानुपपत्त्यादिदो-  
षप्रसङ्गःन । परप्रकाशकत्वं च तस्य क्षयोपशमदशायां प्रतिनिय-  
तविषयसंबन्धाधीनम् । क्षायिकयां च दशायां सदा तत्त्वावरण-  
स्वभावाधीनम् । तच्चैतन्यं रूपादिवत्सामान्यवदस्पन्दात्मकानुपादा-  
नकारणत्वेन गुण इति गुण्याश्रित एव स्यात् । यश्च तस्य गुणी  
स एवात्मा । निर्गुणत्वं च तस्य सांसारिकगुणाभावापेक्षयैव  
(न) अन्यथा, (तस्य) स्वाभाविकानन्तगुणाधारत्वाद् । विम्ब-  
भूतचितो निर्लेपत्वाभ्युपगमे च तत्प्रतिविम्बव्याहृकत्वेन बुद्धौ प्रका-  
शस्यानुपपत्तिः, विम्बप्रतिविम्बभावसंबन्धस्य द्विप्रत्वेन द्वयोरपि  
लेपकत्वतौल्यान् । उपचरितविम्बत्वोपपादने चोषचरितसर्वविषय-  
त्वानुपपादनमपि तुल्यमिति नयादेशविशेषवक्षपातमात्रमेतत् ॥  
प्रकृतं प्रस्तुमः—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्य-  
कारित्वात् ॥ ४-२४ ॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ ४-२५ ॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्रागभारं चित्तम् ॥ ४-२६ ॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ ४-२७ ॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ ४-२८ ॥

प्रसंख्यनेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्म-  
मेघः समाधिः ॥ ४-२९ ॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ४-३० ॥

तदा सर्वावरणमल्लापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ञेय-  
मल्पम् ॥ ४-३१ ॥

भाष्यम्—सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं  
भवति । आवरकेण तमसाऽभिभूतमावृतं अनन्तं ज्ञान-  
सत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्भाटितं ग्रहणसमर्थं भवति ।  
तत्र यदा सर्वावरणमल्लैरपगतं भवति तदा भवत्यस्यानन्त्यं,  
ज्ञानस्यानन्त्याज्ञेयमल्पं संपद्यते, यथाऽकाशे खद्योतः ।  
यत्रेदमुक्तम्—“अन्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत् । अ-  
ग्रीवस्तं प्रत्यमुच्चत्तमजिहोऽभ्यपूजयत् ॥ १ ॥” इति ॥

[ ५३ ]

(य०) — अयुक्तमेतत् । ज्ञानस्य हेयांशं एवावरणस्यावार-  
कत्वात्, स्वरूपावरणेऽचैतन्यप्रसङ्गात् । ज्ञानानन्त्ये हेयानन्त्य-  
स्यापि ध्रौद्यान् । उक्तं च—सूक्तं चात्मपरात्मकर्तृकर्म जाव पद-  
पदभिति दिग् ॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्ति-  
गुणानाम् ॥ ४-३२ ॥

अथ कोऽयं क्रमो नाम ? इति—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः  
क्रमः ॥ ४-३३ ॥

माष्टम्—क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन  
गृह्णते क्रमः । न हनुभूतक्रमक्षणा नवस्य पुराणता वस्त्र-  
स्यान्ते भवति । नित्येषु च क्रमो दृष्टः । द्वयी चेयं नित्यता,  
कृटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च । तत्र कृटस्थनित्यता  
पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम् । यस्मिन् परिणाम्यमाने  
तस्य न विहन्यर्ते तन्नित्यम् । उभयस्य च तत्त्वानभिघाता-  
भित्यत्वम् । तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनि-  
र्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानो नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्य-  
वसानः । कृटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरू-

[ ५४ ]

पास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति । तत्राप्यलब्धपर्यवसानः  
शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामृपादाय कल्पित इति ॥

(य०) — सर्वत्र द्रव्यतयाऽक्रमस्य पर्यायतया च क्रमस्यानु-  
भवात् क्रमाक्रमानुविद्धत्रैलक्षण्यस्यैव सुलक्षणत्वात् कूटस्थनित्य-  
तायां मानाभावः । पर्याये च स्थितिचातुर्विध्याद्वैचित्र्यमिति  
प्रवचनरहस्यमेव सयुक्तिभिति तु श्रद्धेयम् ॥ प्रकृतम—

अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमान-  
स्थास्ति क्रमसमाप्तिर्न वा ? इति । अवचनीयमेतत् । कथम् ?  
आस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यति । ॐ भो  
इति । अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति विभज्य वचनीयमेतत् ।  
प्रत्युदितरत्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यते इतरस्तु  
जनिष्यते । तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसी ? इत्येवं  
परिपृष्ठे विभज्य वचनीयः प्रश्नः, पशुनुहिश्य श्रेयसी, देवान्  
शृष्टीशाधिकृत्य नेति । अयं त्वचनीयः प्रश्नः संसारोऽय-  
मन्तवानथानन्त इति ? । कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमा-  
प्तिर्नेतरस्येति अन्यतरावधारणे दोषः । तस्माद्वयाकरणीय  
एवायं प्रश्न इति ॥

गुणाधिकारक्रमपरिसमाप्तौ कैवल्यमुक्तम्, तत्स्वरूपमव-  
शार्यते—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं

[ ५५ ]

स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ४-३४ ॥

॥ इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे साङ्ख्यप्रवचने  
कैवल्यपादश्रुतुर्थः ॥

अयं पातञ्जलस्यार्थः किञ्चित्स्वसमयाङ्गितः ।

दर्शितः प्राज्ञबोधाय यशोविजयवाचकैः ॥ १ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

॥ अर्हस् ॥

श्रीमद्-हरिमद्रस्त्रिसंदर्भितः  
श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचितव्याख्यासंबलिता

## योगविंशिका ।

॥ ऐं नमः ॥ अथ योगविंशिका व्याख्यायते—  
मुक्षेण जोयणाओ, जोगो सञ्चो वि धम्मवावारो ।  
परिसुच्छो विज्ञेओ, ठाणाद्गाओ विसेसेण ॥ १ ॥

‘मुक्षेण’ त्ति । ‘मोक्षेण’ महानन्देन योजनात्  
‘सर्वोऽपि धर्मव्यापारः’ साधोरालयविहारभाषाविनयभिज्ञा-  
टनादिक्रियारूपो योगो विज्ञेयः, योजनाद्योग इति च्यु-  
त्पक्ष्यर्थानुगृहीतमोक्षकारणीभूतात्मव्यापारन्वरूपयोगलक्षणस्य  
सर्वत्र घटमानत्वात् । कीदृशो धर्मव्यापारो योगः? इत्याह—  
‘परिष्ठुद्धः’ प्रणिधानाद्याशयविशुद्धिमात्, अनीदशस्य  
द्रष्ट्यक्रियारूपत्वेन तुच्छत्वात्, उक्तं च—“आशयभेदा एते,  
सर्वेऽपि हि तत्त्वतोऽवगन्तव्याः । भावोऽयमनेन विना, चेष्टा  
द्रष्ट्यक्रिया तुच्छा ॥” (षोडशक ३-१२) ‘एते’ प्रणिधा-  
नाद्यः सर्वेऽपि कथश्चित्क्रियारूपत्वेऽपि तदुपलक्ष्या आशय-

मेदाः, ‘अयं’ च पञ्चप्रकारोऽप्याशयो भावः, अनेन विना  
‘चेष्टा’ कायवाच्चनोब्यापाररूपा द्रव्यक्रिया ‘तुच्छा’  
असारा अभिलिखितफलासाधकत्वादित्येतदर्थः ॥ अथ के ते  
प्रणिधानाद्याशयाः? उच्यते—प्रणिधानं प्रवृत्तिविभज्यः  
सिद्धिर्विनियोगश्चेति पञ्च, आह च—“प्रणिधि-प्रवृत्ति-विभ-  
ज्य-सिद्धि-विनियोगमेदतः प्रायः। धर्मज्ञैराख्यातः, शुभा-  
शयः पञ्चधात्र विधौ ॥” ( षो० ३-६ ) इति । तत्र हीन-  
गुणदेषपाभावपरोपकारवासनाविशिष्टोऽधिकृतधर्मस्थानस्य क-  
र्तव्यतोपयोगः प्रणिधानम्, उक्तं च—“प्रणिधानं तत्समये,  
स्थितिमत्तदधः कृपानुगं चैव । निरवद्यवस्तुविषयं, परार्थनि-  
ष्पत्तिसारं च ॥” ( षो० ३-७ ) ‘तत्समये’ प्रतिपन्नधर्म  
स्थानमर्यादार्या ‘स्थितिमत्’ अविचलितस्वभावम्, ‘तदधः’  
स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानादधस्तनगुणस्थानवर्त्तिषु जीवेषु ‘कृपा-  
नुगं’ करुणापरम्, न तु गुणहीनत्वाचेषु देषान्वितम्,  
शेषं सुगमम् ॥ अधिकृतधर्मस्थानोद्देशेन तदुपायविषय इति-  
कर्तव्यताशुद्धः शीघ्रक्रियासमाप्तीच्छादिलक्षणौत्सुक्यविर-  
हितः प्रयत्नातिशयः प्रवृत्तिः, आह च—“तत्रैव तु प्रवृत्तिः,  
शुभसारोपायसङ्कृतात्यन्तम् । अधिकृतयत्नातिशयादौत्सुक्य-  
विवर्जिता चैव ॥” ( षो० ३-८ ) ‘तत्रैव’ अधिकृतधर्म-  
स्थान एव शुभः—प्रकृष्टः सारो—नैपुण्यान्वितो य उपाय-  
स्तेन संगता ॥ विभजयो नाम विभस्य जयोऽस्मादिति व्यु-

त्पत्त्या धर्मान्तरायनिवर्तकः परिणामः । स च जेतव्यविभूत्रै-  
विध्यात्रिविधः, तथाहि—यथा कस्यचित्करणकारीर्णमार्गवती-  
र्णस्य करणकविभो विशिष्टगमनविधातहेतुर्भवति, तदपनयनं  
तु पथि प्रस्थितस्य निराकुलगमनसंपादकं, तथा मोक्षमार्गप्र-  
वृत्तस्य करणकस्थानीयशीतोष्णादिपरीपहृपद्वुतस्य न निरा-  
कुलप्रवृत्तिः, तत्त्विक्षाभावनया तदपाकरणे त्वनाकुलप्रवृत्ति-  
सिद्धिरिति करणकविभजयसमः प्रथमो हीनो विभजयः । तथा  
तस्यव ज्वरेण भृशमभिभूतस्य निराकुलगमनेच्छोरपि तत्कर्तु-  
मशक्तुवतः कण्टकविभादधिको यथा ज्वरविभस्तज्जयश्च विशिष्ट-  
गमनप्रवृत्तिहेतुस्तथेहापि ज्वरकल्पाः शारीरा एव गोगा विशि-  
ष्टधर्मस्थानाराधनप्रतिबन्धकत्वादिभास्तदपाकरणं च “हिया-  
हारा मियाहारा” ( पिंडनिर्युक्ति—गा० ६४८ ) इत्यादिस्त्रो-  
क्तरीत्या तत्कारणानासेवनेन, ‘न मत्स्वरूपस्यैते परीपहा  
लेशनोऽपि बाधकाः किन्तु देहमात्रस्यैव’इति भावनाविशेषेण  
वा सम्यग्धर्माराधनाय समर्थमिति ज्वरविभजयसमो मध्यमो  
द्वितीयो विभजयः । यथा च तस्यवाध्वनि जिगमियोदिग्मोह-  
विभोपस्थिती भूयो भूयः प्रेर्यमाणस्याप्यध्वनीनैर्न गमनो-  
त्साहः स्यात्तद्विजये तु स्वयमेव सम्यग्ज्ञानात्परैश्चाभिधीयमा-  
नमार्गश्रद्धानान्मन्दोत्साहतात्यागेन विशिष्टगमनसंभवस्तथे-  
हापि मोक्षमार्गे दिग्मोहकल्पो मिथ्यात्वादिजनितो मनोविभ्रमो  
विभस्तज्जयस्तु गुरुपारतन्येण मिथ्यात्वादिप्रतिपक्षभावनया

मनोविभ्रमापनयनादनवच्छब्दप्रयाणसंपादक इत्यर्थं मोहवि-  
भजयसम उत्तमस्तुतीयो विभजयः । एते च त्रयोऽपि विभ-  
जया आशयरूपाः समुदिताः प्रवृत्तिहेतवोऽन्यतरवेकल्येऽपि  
तदसिद्धेरित्यवधेयम् उक्तं च—“ विभजयस्त्रिविधः खलु,  
विज्ञेयो हीनमध्यमोक्षएः । मार्ग इह कण्टकज्वरमोहजयसमः  
प्रवृत्तिफलः ॥ ” ( पो० ३-६ ) इति ॥ अतिचाररहिताधिकगुणे  
गुर्वादौ विनयवैयावृत्यवहुमानाद्यन्विता हीनगुणे निर्गुणे वा  
दयादानव्यसनपतितदुःखापहारादिगुणप्रधाना मध्यमगुणे  
चोपकारफलवत्यधिकृतधर्मस्थानस्याहिसादेः प्राप्तिः सिद्धिः,  
उक्तं च—“ सिद्धिस्तत्तद्वर्मस्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया ।  
अधिके विनयादियुता, हीने च दयादिगुणसारा ॥ ” ( पो०  
३-१० ) इति ॥ स्वप्राप्तधर्मस्थानस्य यथोपायं परस्मिन्ब्रपि  
संपादकन्वं विनियोगः, अर्थं चानेकजन्मान्तरसन्तानक्रमेण  
प्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तवन्ध्यो हेतुः, उक्तं च—“ सिद्धेश्चोत्तर-  
कार्य, विनियोगोऽवन्ध्यमेतदेतस्मिन् । सन्यन्वयसंपत्त्या,  
सुन्दरगमिति तत्परं यावत् ॥ ” ( पो० ३-११ ) ‘ अवन्ध्यं ’  
न कदाचित्त्रिष्कलं ‘ एतत् ’ धर्मस्थानमहिसादि, ‘ एतस्मिन् ’  
विनियोगे सति ‘ अन्वयसंपत्त्या ’ अविच्छेदभावेन ‘ तत् ’  
विनियोगसाध्यं धर्मस्थानं सुन्दरम् । ‘ इतिः ’ भिन्नक्रमः  
समाप्त्यर्थश्च, यावत्परमित्येवं योगः, यावत् ‘ परं ’ प्रकृष्टं  
धर्मस्थानं समाप्यत इत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्—धर्मस्तावद्रागा-

दिमलविगमेन पुष्टिशुद्धिमच्चित्तमेव । पुष्टिश्च पुण्योपचयः,  
शुद्धिश्च घातिकर्मणां पापानां क्षयेण या काचिन्निर्मलता,  
तदुभयं च प्रणिधानादिलक्षणेन भावेनानुबन्धवज्ज्ञवति, तदनु-  
बन्धाच्च शुद्धिप्रकर्षः संभवति, निरनुबन्धं च तदशुद्धिफलमे-  
वेति न तद्वर्मलक्षणम्, ततो युक्तमुक्तं “प्रणिधानादिभावेन  
परिशुद्धः सर्वोऽपि धर्मव्यापारः सानुबन्धत्वाद् योगः”  
इति । यद्यप्येवं निश्चयतः परिशुद्धः सर्वोऽपि धर्मव्यापारो  
योगस्तथापि ‘विशेषेण’ तान्त्रिकसंकेतव्यवहारकृतेनासा-  
धारणेन स्थानादिगत एव धर्मव्यापारो योगः, स्थानाद्यन्यतम  
एव योगपदप्रवृत्तेः सम्मतत्वादिति भावः ॥ १ ॥

स्थानादिगतो धर्मव्यापारो विशेषेण योग इत्युक्तम्, तत्र  
के ते स्थानादयः ? कतिभेदं च तत्र योगत्वम् ? इत्याह—  
ठाणुन्नत्थालंकण—रहिञ्चो नंतम्मि पंचहा एसो ।  
दुग्भित्थ कम्मजोगो, तहा तिथं नाणंजोगो उ ॥२॥

‘ठाणुन्नत्थे’त्यादि । स्थीयतेऽनेनेति स्थानं-आसनवि-  
शेषरूपं कायोत्सर्गपर्यङ्कवन्धपद्मासनादि सकलशास्त्रप्रसिद्धम्,  
अर्थः—शब्दः स च क्रियादावुच्चार्यमाणसद्वर्गलक्षणः;  
अर्थः—शब्दाभिधेयव्यवसायः, आलम्बनं-वाह्यप्रतिमादिविष-

१ “ नाणंजोगो उ ” इत्यपि ।

यध्यानम्, एते चत्वारो भेदाः, 'रहितः' इति रूपिद्रव्याल-  
म्बनरहितो निर्विकल्पचिन्मात्रसमाधिरूप हृत्येवं 'एषः' योगः  
पञ्चविधः 'तन्त्रे' योगप्रधानशास्त्रे, प्रतिपादित इति शेषः,  
उक्तं च—“स्थानोर्णार्थालम्बनतदन्ययोगपरिभावनं सम्यक्।  
परतत्त्वयोजनपलं, योगाभ्यास इति समर्थविदः ॥ ” (पोड०  
१३-४) इति । स्थानादिषु योगत्वं च “मोक्षकारणीभूता-  
त्मव्यापारत्वं योगत्वम्” इति योगलक्षणयोगादनुपचरितमेव ।  
यत्तु “यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध-  
योऽष्टावङ्गानि योगस्य” (पातं० सू० २-२६) इति योग-  
ज्ञत्वेन योगरूपता स्थानादिषु हेतुफलभावेनोपचारादभिधीयत  
इति पोडशकवृत्तावुक्तं तत् “चित्तवृत्तिनिरोधो योगः”  
(पा० यो० द० १-२) इति योगलक्षणमित्रायेणेति ध्येयम् ।  
अत्र स्थानादिषु 'द्वयं' स्थानोर्णलक्षणं कर्मयोग एव, स्थानस्य  
साक्षादूर्णस्याप्युच्चार्यमाणस्यैव ग्रहणादुच्चारणांशे क्रियारूप-  
त्वात् । तथा 'त्रयं' अर्थालम्बननिरालम्बनलक्षणं ज्ञानयोगः,  
'तुः' एवकारार्थ इति ज्ञानयोग एव, अर्थादीनां साक्षाद्  
ज्ञानरूपत्वात् ॥ २ ॥

एष कर्मयोगो ज्ञानयोगो वा कस्य भवतीति स्वामि-  
चिन्तायामाह—

देसे सब्वे य तहा, नियमेणेसो चारित्तिणो होइ ।  
इयरस्त बीयमित्तं, इन्तु च्छिय केइ इच्छंति ॥ ३ ॥

‘देसे सब्वे य’ चिः। मस्तम्याः पञ्चम्यर्थत्वादेशतस्तथा सर्व-  
तश्च चारित्रिण एव ‘एषः’ प्रागुक्तः आनादिरूपो योगः ‘निय-  
मेन’ इतरच्यवच्छेदलक्षणेन निश्चयेन भवति, क्रियारूपस्य  
ज्ञानरूपस्य वाऽस्य चारित्रमोहनीयक्षयोपशमनान्तरीयक्त्वात्,  
अत एवाध्यात्मादियोगप्रवृत्तिरपि चारित्रप्राप्तिमारभ्यंत्र ग्रन्थ-  
कृता योगविनादौ प्रस्तुपिता, तथाहि—“देशादिभेदतश्चित्र-  
मिदं चोक्तं महात्मभिः । अत्र शूर्वंदितो योगोऽध्यात्मादिः  
संप्रवर्तते ॥ १ ॥” (३५६ श्लोक) इति, ‘देशादिभेदतः’  
देशसर्वत्रिशेषाद् ‘इदं’ चारित्रं ‘अध्यात्मादिः’ अध्यात्मं १  
भावना २ आध्यात्मं ३ समता ४ वृत्तिसंक्षयश्च ५, तत्राध्यात्मं  
उचितप्रवृत्तेवत्भूतो मैत्यादिभासगर्भं शास्त्राज्ञीवादितत्त्वचि-  
न्तनम् १, भावना अध्यात्मस्य ग्रतिदिनं प्रवर्धमानश्चित्तवृत्ति-  
निरोधयुक्तोऽभ्यासः २, आध्यात्मं प्रशस्तैकार्थविपर्यं स्थिरप्र-  
दीप्तमदशमुन्पातादिविषयमुक्त्योपयोगयुतं चित्तम् ३, समता  
अविद्याकल्पोष्टानिष्टन्वसंज्ञापरिहरेण शुभाशुभानां विषयाणां  
तुल्यताभावंनम् ४, वृत्तिसंक्षयश्च मनोद्वारा विकल्परूपाणां  
शरीरद्वारा परिस्पन्दरूपाणामन्यसंयोगात्मकवृत्तीनामपुनर्भाँ  
वेन निरोधः ५ । अर्थेषामध्यात्मादीनां स्थानादिषु कुत्र

कस्यान्तर्भवः इति चेद्, उच्यते—अध्यात्मस्य चित्रभेदस्य  
 देवसेवाजपतन्त्रचिन्तनादिरूपस्य यथाक्रमं स्थाने ऊर्णेऽर्थे च ।  
 भावनाया अपि भाव्यसमानविषयत्वात्तत्रैव । ध्यानस्याल-  
 म्बने । समतावृत्तिसंक्षययोश्च तदन्ययोग इति भावनीयम् ।  
 ततो देशतः सर्वतश्च चारित्रिण एव स्थानादियोगप्रवृत्तिः  
 संभवतीति सिद्धम् । ननु यदि देशतः सर्वतश्च चारित्रिण  
 एव स्थानादियोगः तदा देशविरत्यादिगुणस्थानहीनस्य व्य-  
 वहारेण आद्वधर्मादौ प्रवर्तमानस्य स्थानादिक्रियायाः सर्वथा  
 नैष्फल्यं स्यादित्याशङ्कयाह—‘इतरस्य’ देशसर्वचारित्रिव्य-  
 तिरिक्त [ स्य ] स्थानादिकं ‘इत एव’ देशसर्वचारित्रं विना  
 योगसंभवाभावादेव ‘वीजमात्रं’ योगवीजमात्रं ‘केचिद्’  
 व्यवहारनयप्रधाना इच्छन्ति । “मोक्षकारणीभूतचारित्रतत्त्व-  
 मंवेदनान्तर्भूतन्वेन स्थानादिकं चारित्रिण एव योगः, अपुन-  
 वन्धकम्म्यगदशोस्तु तयोगवीजम्” इति निश्चयनयाभिमतः  
 पन्थाः । व्यवहारनयस्तु योगवीजमप्युपचारेण योगमेवेच्छ-  
 तीति व्यवहारनयेनापुनर्वन्धकादयः स्थानादियोगस्मामिनः,  
 निश्चयनयेन तु चारित्रिण एवेति विवेकः । तदिदमुक्तम्—  
 “अपुनर्वन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः । अध्यात्मभाव-  
 नारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ २ ॥” ( यो० विं ३६८  
 क्षोकः ) इति । अपुनर्वन्धकस्य उपलंकणात्सम्यग्द्युषेश्च ‘व्यव-

हारेण' कारणे कार्यत्वोपचारेण तात्त्विकः, कारणस्यापि  
कथश्चित्कार्यत्वात् । 'निश्चयेन' उपचारपरिहारेण 'उच्चरस्य  
तु' चारित्रिण एव ॥ सकृदन्धकादीनां तु स्थानादिकमशुद्ध-  
परिणामत्वाच्चिश्चयतो व्यवहारतश्च न योगः किन्तु योगाभ्यास  
इन्यवधेयम्, उक्तं च—“ सकृदावर्त्तनादीनामतात्त्विक उदा-  
हतः । प्रत्यपायफलप्रायस्तथा वेषादिमात्रतः ॥ ३ ॥ ”  
(यो० चिं० २६६ श्लोक.) सकृद—एकवारमावर्तन्ते—उत्कृष्टां  
स्थितिं वभन्ति ये ते सकृदावर्त्तनाः, आदिशब्दाद्विरावर्तना-  
दिग्रहः, 'अतात्त्विकः' व्यवहारतो निश्चयतश्चातत्त्वरूपः॥३॥

तदेवं स्थानादियोगस्वामित्वं विवेचितम्, अर्थैतेऽन्वेष  
प्रतिभेदानाह—

इक्किञ्चो य चउच्छा, इत्थं पुण नत्तओ मुणेयव्वो ।  
इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धिभेदयो समयनीर्देष ॥ ४ ॥

'इक्किञ्चो य'ति । 'अत्र' स्थानादौ 'पुनः' कर्मज्ञानवि-  
भेदाभिधानापेक्षया भूयः एकैकश्चतुर्द्वा 'तत्त्वतः' सामान्येन  
दृष्टावपि परमार्थतः 'समयनीत्या' योगशास्त्रप्रतिपादितपरि-  
पाद्या 'इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धिभेदतः' इच्छाप्रवृत्तिस्थिर-  
सिद्धिभेदानाश्रित्य 'मुणेयव्वो' ति ज्ञातव्यः ॥ ४ ॥

तानेव भेदान् विवरीषुराह—

तज्जुतकहापीईइ संगया विपरिणामिणी इच्छा ।  
 सबवत्थुवसमसारं, तप्पालणमो पवत्ती उ ॥ ५ ॥  
 तह चेव एयबाहग—चिंतारहियं थिरत्तणं नेयं ।  
 सबं परत्थसाहग—रूबं पुण होइ सिद्धि त्ति ॥६॥

‘तज्जुतकहा’ इत्यादि । तद्युक्तानां—स्थानादियोगयुक्तानां कथायां ग्रीत्या—अर्थबुभुत्सयाऽर्थबोधेन वा जनितो यो हर्षस्तल्लक्षणया संगता—सहिता ‘विपरिणामिणी’ विधिकर्तृबहुमानादिगर्भं स्वोल्लासमात्रादत्किञ्चिदभ्यासादिरूपं विचित्रं परिणाममादधाना इच्छा भवति, द्रव्यक्षेत्राद्यसामग्र्ये-णाङ्गसाकल्याभावेऽपि यथाविहितस्थानादियोगेच्छया यथाशक्ति क्रियमाणं स्थानादि इच्छारूपमित्यर्थः । प्रवृत्तिस्तु ‘सर्वत्र’ सर्वावस्थायां ‘उपशमसारं’ उपशमप्रधानं यथा स्यात्था ‘तत्पालनं’ यथाविहितस्थानादियोगपालनम्, ‘ओ’ त्ति प्राकृतत्वात् । वीर्यातिशयाद् यथाशास्त्र-मङ्गसाकल्येन विधीयमानं स्थानादि प्रवृत्तिरूपमित्यर्थः ॥ ५ ॥  
 ‘तह चेव’ त्ति । ‘तथैव’ प्रवृत्तिवदेव सर्वत्रोपशमसारं स्थानादिपालनमेतस्य—पाल्यमानस्य स्थानादेवीधकचिन्तारहितं स्थिरत्वं ज्ञेयम् । प्रवृत्तिस्थिरयोगयोरेतावान् विशेषः—यदुत प्रवृत्तिरूपस्थानादियोगविधानं सातिचारत्वाद्वाधकचि-

न्तासहितं भवति । स्थिररूपं त्वभ्याससौषुप्तेन निर्बाधकमेव  
ज्ञायमानं तज्जातीयत्वेन बाधकचिन्ताप्रतिधाताच्छुद्दिविशेषेण  
तदनुत्थानाच्च तद्राहितमेव भवतीति । ‘सर्वं’ स्थानादि स्व-  
स्मिन्नुपशमविशेषादिकलं जनयदेव परार्थसाधकं-स्वसन्निहि-  
तानां स्थानादियोगशुद्धयभावतामपि तत्सद्विधानद्वारा  
परगतस्वसद्वशफलसंपादकं पुनः सिद्धिर्भवति । अत एव सि-  
द्धाऽहिंसानां समीपे हिंसाशीला अपि हिंसां कर्तुं नालम्, सिद्ध-  
सत्यानां च समीपेऽसत्यप्रिया अप्यसत्यमभिधातुं नालम् ।  
एवं सर्वत्रापि ज्ञेयम् । ‘इतिः’ इच्छादिभेदपरिसमाप्तिसूचकः ।  
अत्रायं मत्कृतः संग्रहश्लोकः—“इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः,  
पालनं शमसंयुतम् । पालनं (प्रवृत्तिः) दोषभीहानिः स्थैर्यं  
सिद्धिः परार्थता ॥१॥” इति ॥६॥ उक्ता इच्छादयो भेदाः,  
अर्थतेषां हेतूनाह—

एए य चित्तरूपा, तहाखओवसमजोगओ हुंति ।  
तस्स उ सज्जापीयाइजोगओ भवसन्ताणं ॥ ७ ॥

‘एए य’ ति । ‘एते च’ इच्छादयः ‘चित्ररूपाः’  
परस्परं विजातीयाः स्वस्थाने चासङ्ग्यभेदभाजः, ‘तस्य तु’  
आधिकृतस्य स्थानादियोगस्थैव श्रद्धा-इदमित्थमेवेति प्रति-  
पत्तिः, प्रीतिः-तत्करणादौर्हष्टः, आदिना धृतिधारणादिपरि-  
ग्रहस्तयोगतः ‘मव्यसन्त्वानां’ मोक्षगमनयोग्यानामपुनर्बन्ध-

कादिजन्तूनां ‘तथाक्षयोपशमयोगतः’ तत्त्वार्थजननाकूल-  
विचित्रक्षयोपशमसंपत्त्या भवन्ति, इच्छायोगादिविशेषे आश-  
यभेदाभिव्यञ्जयः क्षयोपशमभेदो हेतुरिति परमार्थः। अत एव  
यस्य यावन्मात्रः क्षयोपशमस्तस्य तावन्मात्रेच्छादिसंपत्त्या  
मार्गे प्रवर्त्तमानस्य सूक्ष्मबोधाभावेऽपि मार्गानुसारिता न व्या-  
हन्यत इति संप्रदायः ॥ ७ ॥ इच्छादीनामेव हेतुभेदमभिधाय  
कार्यभेदमभिधते—

अणुकंपा निवेदो, संवेगो होइ तह य पसमु त्ति ।  
एएसिं अणुभावा, इच्छाईणं जहासखं ॥ ८ ॥

‘अणुकंप’ त्ति । ‘अनुकम्पा’ द्रव्यतो भावतश्च यथा-  
शक्ति दुःखितदुःखपरिहारेच्छा, ‘निर्वेदः’ नैर्गुण्यपरिज्ञा-  
नेन भवचारकाद्विरक्तता, ‘संवेगः’ मोक्षाभिलाषः, तथा  
‘प्रशमन्त्र’ क्रोधकराइविषयतृष्णोपशमः, इत्येते ‘एतेषां’  
इच्छादीनां योगानां यथासङ्घर्षं अनु-पश्चाद् भावाः ‘अनु-  
भावाः’ कार्याणि भवन्ति । यद्यपि सम्यक्त्वस्यैवैते कार्यभू-  
तानि लिङ्गानि प्रवचने प्रसिद्धानि तथापि योगानुभवसिद्धानां  
विशिष्टानामेतेषामिहेच्छायोगादिकार्यत्वमभिधीयमानं न विरु-  
द्ध्यत इति द्रष्टव्यम् । वस्तुतः केवलसम्यक्त्वलाभेऽपि व्यवहारे-  
णेच्छादियोगप्रवृत्तेरेवानुकम्पादिभावसिद्धेः । अनुकम्पादि-  
सामान्ये इच्छायोगादिसामान्यस्य तद्विशेषे च तद्विशेषस्य

[ ६८ ]

हेतुत्वमित्येव न्यायसिद्धम् । अत एव शमसंबोगनिर्वेदानुकम्पा-  
ऽस्तिक्यलक्षणानां सम्यक्तवगुणानां पश्चानुपूर्व्यैव लाभक्रमः ।  
प्राधान्याचेत्यमुपन्यास इति सद्गुर्मविशिकायां प्रतिपादितम् ॥  
८ ॥ तदेवं हेतुभेदेनानुभावभेदेन चेच्छादिभेदविवेचनं कृतम्,  
तथा च स्थानादावेकस्मिन्निच्छादिभेदचतुष्टयसमावेशादे-  
तद्विषया अशीतिभेदाः संपन्ना एतनिवेदनपूर्वमिच्छादिभेद-  
भिन्नानां स्थानादीनां सामान्येन योजनां शिक्षयन्नाह—  
एवं ठियम्मि तत्ते, नाएण उ जोयणा इमा पयडा ।  
चिङ्गवंदणेण नेया, नवरं तत्तपणुणा सम्म ॥ ९ ॥

‘एवं’ इत्यादि । ‘एवं’ अमुना प्रकारेणच्छादिप्रतिभेदै-  
रशीतिभेदो योगः, सामान्यतस्तु स्थानादिः पश्चभेद इति  
‘तत्त्वे’ योगतत्त्वे ‘स्थिते’ व्यवस्थिते ‘ज्ञातेन तु’ दृष्टान्तेन  
तु चैत्यवन्दनेन इयं ‘प्रकटा’ क्रियाभ्यासपरजनप्रत्यक्षवि-  
पया ‘योजना’ प्रतिनियतविषयव्यवस्थापना ‘नवरं’ केवलं  
तत्त्वज्ञेन ‘सम्यग्’ अवैपरीत्येन ज्ञेया ॥ ९ ॥ तोमेवाह—  
अरिहंतचेङ्ग्याणं, करेमि उस्सग्ग एवमाइयं ।  
सद्गाजुत्तस्स तहा, होइ जहत्थं पयन्नाणं ॥ १० ॥  
एयं चृत्थालंबण—जोगवओ पायमविवरीयं तु ।  
इयरेसि ठाणाइसु, जत्तपराणं परं सेयं ॥ ११ ॥

‘ अरिहंत ’ इत्यादि । “ अरिहंतचेऽयाणं करेमि काउ-  
 स्सग्गं ” एवमादि चैत्यवन्दनदण्डकविषयं ‘ श्रद्धायुक्तस्य ’  
 क्रियास्तिक्यवतः । ‘ तथा ’ तेन प्रकारे गोचार्यमाणस्वरसंप-  
 न्मात्रादिशुद्धस्फुटवर्णानुपूर्वीलक्षणेन ‘ यथार्थ ’ अभ्रान्तं  
 पदज्ञानं भवति, परिशुद्धपदोच्चारे दोषाभावे सति परिशुद्धपद-  
 ज्ञानस्य श्रावणसामग्रीमात्राधीनत्वादिति भावः ॥ १० ॥ ‘ एयं  
 च ’ च्छि । ‘ एतच्च ’ परिशुद्ध चैत्यवन्दनदण्डकपदपरिज्ञानम्,  
 अर्थः—उपदेशपदप्रसिद्धपदवाक्यमहावाक्यैदं पर्यार्थपरिशुद्धज्ञा-  
 नम्, आलम्बनं च-प्रथमे दण्डकेऽधिकृततीर्थकृद्, द्वितीये सर्वे  
 तीर्थकृतः, तृतीये प्रवचनम्, चतुर्थे सम्यग्दृष्टिः शासनाधि-  
 ष्टायक इत्यादि, तद्योगवतः—तत्प्रणिधानवतः ‘ प्रायः ’ ब्राह्म-  
 न्येन ‘ अविपरीतं तु ’ अभीप्सितपरमफलसंपादकमेव, अर्था-  
 लम्बनयोगयोज्ञानयोगतयोपयोगरूपत्वात्, तत्सहितस्य चैत्य-  
 वन्दनस्य भावचैत्यवन्दनत्वासिद्धेः, भावचैत्यवन्दनस्य चामृता-  
 नुष्टानरूपत्वेनावश्यं निर्वाणफलत्वादिति भावः । प्रायोग्रहणं  
 सापाययोगवद्व्यावृत्यर्थम् । द्विविधो हि योगः—सापायो  
 निरपायश्च, तत्र निरुपक्रममोक्षपथप्रतिकूलचित्तवृद्धिकारणं  
 प्राकालाजितं कर्म अपायस्तत्सहितो योगः सापायः, तद्रहि-  
 तस्तु निरपाय इति । तथा च सापायार्थालम्बनयोगवतः  
 कदाचित्कलविलम्बसम्भवेऽपि निरपायतद्वतोऽविलम्बेन फ-  
 लोत्पत्तौ न व्यभिचार इति प्रायोग्रहणार्थः । ‘ इतरेषां ’

अर्थालम्बनयोगाभाववतामेतचैत्यवन्दनसूत्रपदपरिज्ञानं ‘स्थानादिषु यत्नवतां’ गुरुपदेशानुसारेण विशुद्धस्थानवर्णोद्यमपरायणानामर्थालम्बनयोगयोश्च तीव्रस्पृहावतां ‘परं’ केवलं श्रेयः, अर्थालम्बनयोगाभावे वाचनायां प्रच्छनायां परावर्तनायां वा तत्पदपरिज्ञानसानुप्रेक्षाऽसंबलितत्वेन “अनुपयोगो द्रव्यम्” इतिकृत्वा द्रव्यचैत्यवन्दनसूत्रपत्वेऽपि स्थानोर्णयोगयत्नातिशयादर्थालम्बनस्पृहयालुतया च तदेत्वनुष्ठानरूपतया भावचैत्यवन्दनद्वारा परम्परया स्वफलसाधकत्वादिति भावः ॥ १? ॥ स्थानादियत्नाभावे च तचैत्यवन्दनानुष्ठानमप्राधान्यसूत्रपदव्यतामास्कन्दनिष्फलं विपरीतफलं वा स्यादिति लेशतोऽपि स्थानादियोगाभाववन्तो नैतत्प्रदानयोग्या इत्युपदिशनावाह—

इहरा उ कायवासियपायं अहवा महामुसावाओ ।  
ता अणुरुवाणं चिय, कायव्वो एयविन्नासो ॥१२॥

‘इहरा उ’ति । ‘इतरथा तु’ अर्थालम्बनयोगाभाववतां स्थानादियत्नाभावे तु तत् चैत्यवन्दनानुष्ठानं ‘कायवासितप्रायं’ सम्मूर्च्छनजप्रवृत्तितुल्यकायचेष्टिप्रायं मानसोपयोगशून्यत्वात्, उपलक्षणाद्वाग्वासितप्रायमपि द्रष्टव्यं, तथा चाननुष्ठानरूपत्वानिष्फलमेतदिति भावः । ‘अथवा’ इति दोषान्तरे, तचैत्यवन्दनानुष्ठानं महामृषावादः, “स्थानमौन-

ध्यानैरात्मानं व्युत्सृजामि” (ठाणेणं मोणेणं भाणेणं अप्पाणं वोसिरामि’’)इति प्रतिज्ञया विहितस्य चैत्यवन्दनकायोत्सर्गादेः स्थानादिभङ्गे मृषावादस्य स्फुटत्वात्, स्वयं विधिविपर्ययप्रवृत्तां परेषामेतदनुष्ठाने मिथ्यात्वबुद्धिजननद्वारा तस्य लौकिकमृषावादादतिगुरुत्वाच्च, तथा च विपरीतफलं तेषामेतदनुष्ठानं सम्पन्नम् । येऽपि स्थानादिशुद्धमप्यैहिककीर्त्यादीच्छयाऽमुष्मिकस्वलोकादिविभूतीच्छया वैतदनुष्ठानं कुर्वन्ति तेषामपि मोक्षार्थकप्रतिज्ञया विहितमेतत्तद्विपरीतार्थतया क्रियमाणं विषगरानुष्ठानान्तर्भूतत्वेन महामृषावादानुबन्धित्वाद्विपरीतफलमेवेति । विषाद्यनुष्ठानस्वरूपं चेत्थमुपदर्शितं पतञ्जल्याद्युक्तमेदान् स्वतन्त्रेण संवादयता ग्रन्थकृतेव योगाबिन्दौ—“ विषं गरोऽननुष्ठानं, तद्देतुरमृतं परम् । गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ॥ ? ॥ ” ( १५५ श्लो ) ‘ विषं ’ स्थावरजङ्गमभेदभिन्नम् , ततो विषमिव विषम्, एवं गरइव गरः, परं गरः कुद्रव्यसंयोगजो विषविशेषः, ‘ अननुष्ठानं ’ अनुष्ठानाभासं, ‘ तद्देतुः ’ अनुष्ठानहेतुः, अमृतभिवामृतं अमरणहेतुत्वात्, अपेक्षा-इहपरलोकस्पृहा, आदिशब्दादनाभोगादेश यद् विधानं-विशेषस्तस्मात् ॥ “ विषं लब्ध्याद्यपेक्षातः, इदं सच्चित्तमारणात् । महतोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं, लघुत्वापादनात्तथा । २॥ ” ( १५६ श्लो ) लब्ध्यादेः-लब्धिकीर्त्यादेः अपेक्षातः-स्पृहातः ‘ इदं ’ अनुष्ठानं विषं ‘ सच्चित्तमारणात् ’ परिशुद्धान्तःकरण-

परिणामविनाशनात्, तथा महतोऽनुष्टानस्य ‘अल्पार्थनात्’  
तुच्छलब्ध्यादिप्रार्थनेन लघुत्वस्यापादनादिदं विषं ज्ञेयम् ॥  
“दिव्यभोगाभिलाषेण, गरमाहुर्मनीषिणः । एतद्विहितनी-  
त्यैव, कालान्तरनिपातनात् ॥३॥” (१५७ श्लो.) ‘एतद्’ अ-  
नुष्टानं ऐहिकभोगानेस्पृहस्य स्वर्गभोगस्पृहया गरमाहुः ‘विहि-  
तनीत्यैव’ विषोक्तनीत्यैव, केवलं कालान्तरे—भवान्तरस्पे  
निपातनात्—अनर्थसम्पादनात् । विषं सद्य एव विनाशहेतुः,  
गरश्च कालान्तरेणेत्येवमुपन्यासः ॥ “अनाभोगवतश्चैतदनु-  
ष्टानमुच्यते। सम्प्रमुण्धं मनोऽस्येति, ततश्चैतद्यथोदितम् ॥४॥”  
(१५८ श्लो) ‘अनाभोगवतः’ कुत्रापि फलादावप्रणिहित-  
मनसः ‘एतद्’ अनुष्टानं ‘अनुष्टानं’ अनुष्टानमेव न  
भवतीत्यर्थः । सम् इति समन्ततः प्रकर्षेण मुण्धं सञ्चिपातोप-  
हतस्येवानध्यवसायापन्नं मनोऽस्य, ‘इतिः’ पादसमाप्तौ ।  
यत एवं ततो यथोदितं तथैव ॥ “एतद्रागादिदं हेतुः, श्रेष्ठो  
योगविदो विदुः । सदनुष्टानभावस्य, शुभभावांशयोगतः  
॥४॥” (१५९ श्लो) ‘एतद्रागात्’ सदनुष्टानबहुमानात्  
‘इदं’ आदिधार्मिककालभावि देवपूजाद्यनुष्टानं ‘सदनु-  
ष्टानभावस्य’ तात्त्विकदेवपूजाद्याचारपरिणामस्य मुक्त्यद्वेषेण  
मनाग् मुक्त्यनुसारेण वा शुभभावलेशयोगेत् ‘श्रेष्ठः’ अव-  
न्ध्यो हेतुरिति योगविदो ‘विदुः’ जानते ॥ “जिनोदित-  
मिति त्वाहुर्भावसारमदः पुनः । संवेगर्भमत्यन्तममृतं

मुनिषुङ्गवाः ॥ ६ ॥ ” ( १६० श्लो० ) जिनोदितमित्येव  
‘भावसारं’ श्रद्धाप्रधानं ‘अदः’ अनुष्ठानं ‘संवेगगर्भं’  
मोक्षाभिलाषसहितं ‘अत्यन्तं’ अतीव अमरणहेतुत्वादमृत-  
संज्ञमाहुः ‘मुनिषुङ्गवाः’ गौतमादिमहामुनयः ॥ एतेषु त्रयं  
योगाभासत्वादहितम्, इयं तु सदोगत्वाद्वितमिति तत्त्वम् । यत  
एवं स्थानादियत्नाभाववतोऽनुष्ठाने महादोषः ‘तत्’ तस्मात्  
‘अनुरूपाणामेव’ योग्यानामेव ‘एतद्विन्यासः’ चैत्यवन्दन-  
सूत्रप्रदानरूपः कर्तव्यः ॥ १२ ॥ क एतद्विन्यासानुरूपा  
इत्याकाङ्क्षायामाह—

जे देशविरहजुत्ता, जम्हा इह वोसिरामि कायं ति ।  
सुव्वइ विरईए इमं, ता सम्मं चिंतिथव्व मिणं ॥ १३ ॥

‘जे’ इत्यादि । ये ‘देशविरतियुक्ताः’ पञ्चमगुण-  
स्थानपरिणतिमन्तः ते इह अनुरूपा इति शेषः । कुतः ?  
इत्याह—यस्मात् ‘इह’ चैत्यवन्दनसूत्रे “व्युत्सृजामि कायम्”  
इति श्रूयते, इदं च विरतौ सत्यां संभवति, तदभावे काय-  
व्युत्सर्गासम्भवात्, तस्य गुप्तिरूपविरतिभेदत्वात्, ततः सम्य-  
क् चिनितिव्यमेतत् यदुत “कायं व्युत्सृजामि” इति प्रति-  
ज्ञान्यथानुपपत्त्या देशविरतिपरिणामयुक्ता एव चैत्यवन्दना-  
नुष्ठानेऽधिकारिणः, तेषामेवागमपरतन्त्रतया विधियत्नसम्भ-  
वेनामृतानुष्ठानसिद्धेरिति । एतच्च मध्यमाधिकारिग्रहणं तुला-

दण्डन्योयनाद्यन्तग्रहणार्थम्, तेन परमामृतानुष्ठानपराः सर्व-  
विरतास्तत्त्वत एव तद्वेत्वनुष्ठानपराः । अपुनर्बन्धका आपि च  
व्यवहारादिहाधिकारिणो गृह्णन्ते, कुग्रहविरहसम्पादनेनापुनर्ब-  
न्धकानामपि चैत्यवन्दनानुष्ठानस्य फलसम्पादकतायाः पञ्चा-  
शकादिप्रसिद्धत्वादित्यवधेयम् । ये त्वपुनर्बन्धकादिभावमप्य-  
स्पृशन्तो विधिवहुमानादिरहिता गतानुगतिकतयैव चैत्यवन्द-  
नाद्यनुष्ठानं कुर्वन्ति ते सर्वथाऽयोग्या एवेति व्यवस्थितम्  
॥ १३ ॥ नन्वविधिनाऽपि चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठाने तीर्थप्रवृत्तिर-  
व्यवच्छिन्ना स्यात्, विधेरेवान्वेषणे तु द्वित्राणामेव विधिपराणां  
लाभात् क्रमेण तीर्थोच्छेदः स्यादिति तदनुच्छेदाद्याविध्यनु-  
ष्ठानमप्यादरण्यामित्याशङ्कायामाह—

तित्थस्सुच्छेयाइ वि, नालंबण जं ससमएमेव ।  
सुत्तकिरियाइ नासो, एसो असमंजसविहाणा॥१४॥

‘तित्थस्स’ इत्यादि । ‘अत्र’ अविध्यनुष्ठाने तीर्थो-  
च्छेदाद्यपि नालम्बनी(नम्), तीर्थानुच्छेदाद्याविध्यनुष्ठानमपि  
कर्तव्यमिति नालम्बनीयम् । ‘यद्’ यस्मात् ‘एवमेव’  
अविध्यनुष्ठाने क्रियमाण एव ‘असमञ्जसविधानात्’ विहि-  
तान्यथाकरणादशुद्धपारम्पर्यप्रवृत्त्या सूत्रक्रियाया विनाशः, स

---

१ श्रीहरिभद्रसूरिकृतः । २ “ तित्थस्सुच्छेयाइ वि, एत्थं  
नालंबणं जमेमेव ” इति भवेत् ।

एष तीर्थोच्छेदः । नहि तीर्थनाम्ना जनसमुदाय एव तीर्थम्, आज्ञारहितस्य तस्यास्थितसद्वातरूपत्वप्रतिपादनात्, किन्तु सूत्रविहितयथोचितक्रियाविशिष्टसाधुसाधीश्रावकश्राविकाममुदायः, तथा चाविधिकरणे सूत्रक्रियाविनाशात्परमार्थतस्तीर्थविनाश एवेति तीर्थोच्छेदालम्बनेनाविधिस्थापने लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायातेत्यर्थः ॥ १४ ॥ सूत्रक्रियाविनाशस्यैवाहितावहतां स्पष्टयन्नाह—

सो एस वंकओ चिय, न य सयमयमारियाणमविसेसो  
एयं पि भावियवं, इह तित्थुच्छेयभीरुहिं ॥ १५ ॥

‘सो एस ’त्ति । ‘स एषः’ सूत्रक्रियाविनाशः ‘वक्र एव’ तीर्थोच्छेदपर्यवसाधितया दुरन्तदुःखफल एव । ननु शुद्धक्रियाया एव पक्षपाते क्रियमाणे शुद्धायास्तस्या अलाभादशुद्धायाश्रान्जीकारादानुश्रोतमिक्रिया वृत्त्याऽक्रियापरिणामस्य स्वत उपनिपातात्तीर्थोच्छेदः स्यादेव, यथाकथञ्चिदनुष्ठानावलम्बने च जनक्रियाविशिष्टजनसमुदायरूपं तीर्थं न व्यबच्छिद्यते, न च कर्तुरविधिक्रियया गुरोरूपदेशकस्य कश्चिद्दोषः, अक्रियाकर्तुरिवाविधिक्रियाकर्तुस्तस्य स्वपरिणामाधीनप्रवृत्तिकत्वात्, केवलं क्रियाप्रवर्तनेन गुरोस्तीर्थव्यवहाररक्षणाद्वाण एवेत्याशङ्कायामाह—न च स्वयंमृतमारितयोरविशेषः, किन्तु विशेष एव, स्वयंमृते स्वदुष्टाशयस्यानेमित्तत्वात्

मारिते च मार्यमाणकर्मविपाकसमुपनिपातेऽपि स्वदुष्टाशयस्य  
निमित्तत्वात्, तद्विद्वं स्वयमक्रियाप्रवृत्तं जीवमपेद्य गुरोर्न  
दूषणम्, तदीयाविधिप्ररूपणमवलम्ब्य श्रोतुरविधिप्र-  
वृत्तौ च तस्योन्मार्गप्रवर्तनपरिणामादवश्यं महादूषणमेव, तथा  
च श्रुतकेवलिनो वचनम्—‘जहं सरणमुवगयाणं, जीवाण  
सिरो निकितए जो उ। एवं आयरिओ वि हु, उस्सुतं परण-  
वेतो य ॥१॥’ न केवलमविधिप्ररूपणे दोषः, किन्तु विधि-  
प्ररूपणाभोगेऽविधिनिषेधासम्भवात् तदाशंसनानुमोदनापत्तेः  
फलतस्तत्प्रवर्तकत्वादोष एव, तस्मात् “ स्वयमेतेऽवि-  
धिप्रवृत्ता नात्रास्माकं दोषो वर्यं हि क्रियामेवोपदिशामो न  
त्वविधिम् ” एतावन्मात्रमपुष्टालम्बनमवलम्ब्य नोदासितव्यं  
परहितनिरतेन धर्मचार्येण, किन्तु सर्वोदयमेनाविधिनिषेधेन  
विधावेव श्रोतारः प्रवर्तनीयाः, एवं हि ते मार्गे प्रवेशिताः,  
अन्यथा तून्मार्गप्रवेशनेन नाशिताः। एतदपि भावितव्यमिह  
तीर्थोच्छेदभीस्तुभिः—विधिव्यवस्थापनेनैव द्येकस्यापि जीवस्य  
सम्यग् बोधिलाभे चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकेऽमारिपटहवादना-  
तीर्थोन्नतिः, अविधिस्थापने च विपर्ययात्तीर्थोच्छेद एवेति ।  
यस्तु श्रोता विधिशास्त्रवणकालेऽपि न सर्वेगभागी तस्य  
धर्मश्रावणेऽपि महादोष एव, तथा चोक्तं ग्रन्थकृतैव षोड-

---

१ “यथा शरणमुवगानां जीवानां शिरो निकृन्तति यस्तु ।  
एवमाचार्योऽविखलत्सूत्रं प्रज्ञापयन्श्च ॥” २ ‘अविधि’—इति स्यात् ।

शके—“यः शृणवन् सिद्धान्तं, विषयपिपासातिरेकतः पापः । प्राप्नोति न संवेगं, तदापि यः सोऽचिकित्स्य इति ॥ १ ॥” नैवंविधस्य शस्तं, मण्डल्युपवेशनप्रदानमपि । कुर्वन्नेतद्गुरुरपि, तदधिकदोषोऽवगन्तव्यः ॥ २ ॥” ( षो० १० - १४ - १५ ) मण्डल्युपवेशनं-सिद्धान्तदानेऽर्थमण्डल्युपवेशनम् । ‘तदधिक-दोषः’ अयोग्यश्रोतुरधिकदोषः, पापकर्तुरपेक्षया तत्कारायितु-महादोषत्वात् । तस्माद्विधिश्रवणरसिंकं श्रोतारमुद्दिश्य विधि-प्ररूपणेनैव गुरुस्तीर्थव्यवस्थापको भवति, विधिप्रवृत्त्यैव च तीर्थमव्यवच्छिन्नं भवतीति सिद्धम् ॥ १५ ॥ ननु किमेताव-द्वौद्वार्थगवेषण्या ?, यद्वहुभिर्जनैः क्रियते तदेव कर्तव्यं “महा-जनो येन गतः स पन्थाः” इति वचनात्, जीतव्यवहारस्यैवेदानीं बाहुल्येन प्रवृत्तेस्तस्यवाऽतीर्थकालभावित्वेन तीर्थ-व्यवस्थापकत्वादित्याशङ्कायामाह—

मुक्तूण लोगसन्नं, उड्डूण य साहुसमयसबभावं । सम्पं पयद्वियवं, बुहेणमझनिउणबुद्धीए ॥ १६ ॥

‘मुक्तूण’ चिति । मुक्त्वा [‘लोकसंज्ञां’] “लोक एव प्रमाणं” इत्येवंस्पां शास्त्रनिरपेक्षां मतिं ‘उड्डूण य’ चिति बोद्धा च ‘साधुसमयसद्भावं’ समीचीनसिद्धान्त [रहस्य] ‘सम्यग्’ विधिनीत्या प्रवर्त्तितव्यं चेत्यवन्दनादौ ‘बुधेन’ परिणेतेन ‘अतिनिषुणबुद्ध्या’ अतिशयितसूक्ष्मभावानुधाविन्या मत्या ।

१ ‘शृणवन्नापि सिद्धान्तं’ इत्यपि ।

साधुसमयसद्वावश्यायम्—“ लोकमालम्ब्य कर्तव्यं, कुतं वहु-  
भिरेव चेत्। तदा मिथ्यादशां धर्मो, न त्याज्यः स्यात्कदाचन  
॥ १ ॥ ( ज्ञानसारे २३-४ ) स्तोका आर्या अनार्थेभ्यः,  
स्तोका जैनाश्र तेष्वपि । मुश्रद्वास्तेष्वपि स्तोकाः, स्तोकास्ते-  
ष्वपि सत्क्रियाः ॥ २ ॥ श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांसो, लोके  
लोकोत्तरे च न । स्तोका हि रत्नवण्णिजः, स्तोकाश्र स्वा-  
त्मशोधकाः ॥ ३ ॥ ( ज्ञानसारे २३-५ ) एकोऽपि  
शास्त्रनीत्या यो, वर्तते स महाजनः । किमज्ञसार्थेः ? शतमप्य-  
न्धानां नैव पश्यति ॥ ४ ॥ यन्संविग्नजनाचीर्ण, श्रुतवाक्यै-  
रबाधितम् । तज्जीतं व्यवहाराख्यं, पारम्पर्यविशुद्धिमत् ॥ ५ ॥  
यदाचीर्णमसंविग्नैः, श्रुतार्थीनवलम्बिभिः । न जीतं व्यवहा-  
रस्तदन्धसंततिसम्भवम् ॥ ६ ॥ आकल्पव्यवहारार्थं, श्रुतं न  
व्यवहारकम् । इतिवकुर्महत्तन्त्रे, प्रायश्चित्तं प्रदर्शितम् ॥ ७ ॥  
तस्माच्छ्रुतासुसारेण, विष्येकरमिकैर्जनैः । संविग्नजीतमालम्ब्य-  
मित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥ ८ ॥ ” ननु यद्येवं सर्वादरेण विधि-  
पक्षपातः क्रियते तदा “ अविहिक्या वरमक्यं, अस्यवग्यणं  
भण्टति सञ्चन्नू । पायच्छ्रुतं जम्हा, अकए गुरुयं कए लहुअं  
॥ ९ ॥ ” इत्यादि वचनानां का गतिः ? इति चेत्, नैतानि  
वचनानि भूलत एवाविधिप्रवृत्तिविधायकानि, किन्तु विधिप्र-

---

१ “ अविधिकृः। द्वारमक्तं असूत्रवचनं भण्टन्ति सर्वज्ञाः ।  
प्रायश्चित्तं यस्मादकृते गुरुः कुते लघुकम् ॥ ”

वृत्तावप्यनाभोगादिनाऽविधिदोषशङ्खस्यस्य भवतीति तद्विद्या  
न क्रियात्यागो विधेयः । प्रथमाभ्यासे तथाविधज्ञानाभावाद-  
न्यदापि वा प्रज्ञापनीयस्याविधिदोषो निरनुबन्ध इति तस्य  
तादृशानुष्टानमपि न दोषाय, विधिवहुमानाद् गुर्वज्ञायोगाच्च  
तस्य फलतो विधिरूपत्वादित्येतावन्मात्रप्रतिपादनपराणीति न  
कश्चिदोषः । अवोचाम चाध्यात्मसारश्रकरणे—“ अशुद्धा-  
पि हि शुद्धायाः, क्रिया हेतुः सदाशयात् । ताम्रं रसानुवेधेन,  
स्वर्णत्वमुपगच्छति ॥ १ ॥ ” ( २-१६ श्लो.) यस्तु विध्य-  
वहुमानादविधिक्रियामासेवते तत्कर्तुरपेक्षया विधिव्यवस्थाप-  
नरसिकस्तदकर्त्ताऽपि भव्य एव, तदुक्तं योगदृष्टिसमुच्चये ग्रन्थ-  
कृतव—“ तान्विकः पक्षपातश्च, भावशून्या च या क्रिया ।  
अनयोगन्तरं ब्रेयं, भानुखद्योतयोरिव ॥ १ ॥ ” ( २२१ श्लो० )  
इत्यादि । न चैव तादृशपृष्ठमप्यगुणस्थानपरिणतिप्रयोज्य-  
विधिव्यवहाराभावादस्मददीनामिदानीन्तनमावश्यकाद्याचर-  
णमकर्तव्यमेव प्रसक्तमिति शङ्कनीयम्, विकल्पानुष्टानानामपि  
“ जैं जा हविज्ज जयणा, सा सा से णिज्जरा होइ । ”  
इत्यादिवचनप्रामाण्यात् यत्किञ्चिद्विध्यनुष्टानस्येच्छायोगसंपा-  
दकतदितरस्यापि वालाद्यनुग्रहसम्पादकत्वेनाकर्तव्यत्वासिद्धेः ।

---

१ “ मधिगच्छति ” इत्यपि । २ “ या या भवेद्यतना  
सा सा तस्य निर्जरा भवति ” ।

इच्छायोगवद्विविकलानुष्टुयिभिर्गीतार्थैः सिद्धान्तविधिप्रस्त-  
पणे तु निर्भरो विधेयस्तस्यैव तेषां सकलकल्याणसम्पादक-  
त्वात्, उक्तं च गच्छाचारप्रकीर्णके—“ जँड वि ण सकं  
काउं, सम्मं जिणभासियं अणुद्वाणं । तो सम्मं भासिज्ञा,  
जह भणियं खीणरागेहि ॥ १ ॥ ओसओ वि विहारे, कम्मं  
सोहेइ सुलभबोही य । चरणकरणं विशुद्धं, उववृहंतो परुवितो  
॥२॥”(गाथा ३२-३४) इति । ये तु गीतार्थीज्ञानिरपेक्षा वि-  
धिभिमानिन इदानीन्तनव्यवहारमुत्सृजन्ति अन्यं च विशुद्धं  
व्यवहारं संपादयितुं न शक्नुवन्ति ते वीजमात्रमप्युच्छन्दन्तो  
महादोषभाजो भवन्ति । विधिसम्पादकानां विधिव्यवस्थाप-  
कानां च दर्शनमपि प्रत्यृहव्युहविनाशनमिति वयं वदामः  
॥ १६ ॥ अथेमं प्रसक्तमर्थं संक्षिपन् प्रकृतं निगमयन्नाह—  
कथमित्थ पसंगेण, ठाणाइसु जत्संगयाणं तु ।  
हियमेयं विन्नेयं, सदणुद्वाणत्तरणेण तहा ॥१७॥

‘कथमित्थ’ त्ति । ‘कृतं’ पर्याप्तं ‘अत्र प्रसङ्गेन’  
प्रस्तुपरीयमध्ये स्मृतार्थविस्तारणेन ‘स्थानादिषु’ प्रदर्शित-

---

१ “ यदपि न शक्यं कर्तुं सम्यग्जनभाषितमनुष्टानम् ।  
तत्सम्यग्भाषयेद्यथा भणितं क्षीणरागैः ॥ अष्टसओऽपि विहारे  
कर्म शोधयति सुलभबोधिश्च । चरणकरणं विशुद्धमुपवृहन् प्रस्तु-  
पयन् ॥ ”

योगभेदेषु ‘ यत्नसंगतानां तु ’ प्रयत्नवतामेव ‘ एतत् ’  
 चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठानं ‘ हितं ’ मोक्षसाधकं विज्ञेयम् , चैत्यव-  
 न्दनगोचरस्थानादियोगस्य मोक्षहेतुत्वे तस्यापि तत्प्रयोजक-  
 त्वादिति भावः । ‘ तथा ’ इति प्रकारान्तरसमुच्चये । सदनु-  
 ष्ठानत्वेन, योगपरिणामकृतपुण्यानुबन्धिपुण्यनिकेपाद्विशुद्धचि-  
 त्संस्काररूपया प्रशान्तवाहितया सहितस्य चैत्यवन्दनादेः  
 स्वातन्त्र्येणैव मोक्षहेतुत्वादिति भावः । प्रकारभेदोऽयं नयमे-  
 दकृत इति न कथिद्वापः ॥ १७ ॥ सदनुष्ठानभेदानेव प्ररूप-  
 यंश्चरमतज्ज्ञेदे चरमयोगभेदमन्तर्भावियन्नाह—

एयं च पीडभक्तागमाणुं तह असंगयाजुत्तं ।  
 नेयं चउविवहं स्वल्पु, एसो चरमो हवद्व जोगो ॥१८॥

‘ एयं च ’ त्ति । ‘ एतच्च ’ सदनुष्ठानं प्रीतिभक्त्याग-  
 माननुगच्छति तत् प्रीतिभक्त्यागमाणुं-प्रीत्यनुष्ठानं भक्त्य-  
 नुष्ठानं वचनानुष्ठानं चेति त्रिभेदं तथाऽसंगतया युक्तं असं-  
 गानुष्ठानमित्येवं चतुर्विधं ज्ञेयम् । एतेषां भेदानाभिदं स्वरू-  
 पम्—यत्रानुष्ठाने प्रयत्नातिशयोऽस्ति परमा च प्रीतिरूत्पद्यते  
 शेषत्यागेन च यत्क्रियते तत्प्रीत्यनुष्ठानम्, आह च—  
 “ यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः ।  
 शेषत्यागेन करोति यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ ? ॥ ” ( षो०  
 १०-३ ) एतनुन्यमप्यालम्बनीयस्य पूज्यत्वविशेषबुद्ध्या

विशुद्धतरव्यापारं भक्त्यनुष्टानम्, आह च—गौरवविशेषयो-  
गाद्गुद्विमतो यद्विशुद्धतरयोगम् । क्रिययेतरतुल्यमपि, ज्ञेयं  
तद्भक्त्यनुष्टानम् ॥ २ ॥ ” ( पो० १०-४ ) प्रीतित्वभक्तित्वे  
संतोष्यपूज्यकृत्यकर्तव्यताज्ञानजनितर्हर्षगतौ जातिविशेषौ,  
आह च—“ अन्यन्तवल्लभा खलु पत्नी तद्विद्रिता च जन-  
नीति । तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातं स्यान्त्रीतिभक्तिगतम्  
॥ ३ ॥ ” ( पो० १०-५ ) ‘ तुल्यमपि कृत्यं ’ भोजना-  
च्छादनादि ‘ ज्ञातं ’ उदाहरणम् । शास्त्रार्थप्रतिसंधानपूर्वा  
साधोः सर्वत्रोचितप्रवृत्तिर्वचनानुष्टानम्, आह च—‘ वच-  
नात्मिका प्रवृत्तिः, सर्वत्रोचित्ययोगतो या तु । वचनानुष्टान-  
मिदं, चारित्रवतो नियोगेन ॥ ४ ॥ ” ( पो० १०-६ )  
व्यवहारकाले वचनप्रतिसंधाननिरपेक्षं दृढतरसंस्काराच्चन्दन-  
गन्धन्यायेनात्मसाद्भूतं जिनकल्पिकादीनां क्रियासेवनमसङ्गा-  
नुष्टानम्, आह च—“ यन्त्रभ्यामातिशयात्, सान्त्मीभूतामिव  
चेष्ठते सद्द्विः । तदसङ्गानुष्टानं, भवति त्वेतत्तदावेधात्  
॥ ५ ॥ ” ( पो० १०-७ ) ‘ तदावेधान् ’ वचनसंस्कारात्,  
यथाऽऽद्यं चक्रभ्रमणं दण्डव्यापारादुत्तरं च तज्जनितकेवल-  
संस्कारादेव, तथा भिन्नाटनादिविषयं वचनानुष्टानं वचनव्या-  
पाराद् असङ्गानुष्टानं च केवलतज्जनितसंस्कारादिति विशेषः,  
आह च—“ चक्रभ्रमणं दण्डानदभावे चैव यन्परं भवति ।  
वचनासङ्गानुष्टानयोस्तु तज्जापकं ज्ञेयम् ॥ ६ ॥ ” ( पो०

१०-८) इति ॥ 'खलु' इति निश्चये । एतेष्वनुष्ठानमेदेषु 'एषः'  
एतदः समीपतरवृत्ति (वर्त्ति)वाचकत्वात्समीपाभिहिताऽम-  
ङ्गानुष्ठानात्मा चरमो योगोऽनालम्बनयोगो भवति, सङ्गत्या-  
गस्यैवानालम्बनलक्षणत्वादिति भावः ॥ १८ ॥ आलम्बन-  
विधयैवानालम्बनस्वरूपमुपदर्शयन्नाह—

आलंबणं पि एयं, रूबमरुवी य इत्थ परमु त्ति ।  
तगुणपरिणइरुवो, सुहुमोऽणालंबणो नाम ॥१९॥

‘आलंबणं पि’ त्ति । आलम्बनमपि ‘एतत्’ प्राक-  
रणिकयुद्धिसंनिहितं ‘अत्र’ योगविचारे ‘स्पष्टि’ समवस-  
रणस्थजिनस्पृतत्प्रतिमादिलक्षणम्, ‘च’ पुनः ‘अरुपी  
परमः’ सिद्धात्मा इत्येवं द्विविधम् । तत्र तस्य-अरुपिपरमा-  
त्मलक्षणस्यालम्बनस्य ये गुणाः-केवलज्ञानादयस्तेषां परि-  
णाति:-समापत्तिलक्षणा तथा रूप्यत इति तद्गुणपरिणतिरूपः  
सुहुमोऽतीन्द्रियविषयत्वादनालम्बनो नाम योगः, अरुप्याल-  
म्बनस्येषदालम्बनत्वेन “अलवणा यवागृः” इत्यत्रेवात्र  
नव्यपदप्रवृत्तेरविरोधात् । “सुहुमो आलंबणो नाम” त्ति  
कचित्पाठस्तत्रापि सुहुमालम्बनो नामैप योगस्ततोऽनालम्बन  
एवेति भाव उच्चेयः, उक्तं चात्राधिकारे चतुर्दशपोडशके

---

? “ सुहुमो आलंबणो ” इति पाठान्तरम् ।

ग्रन्थकृतैव—“ सालम्बनो निरालम्बनश्च योगः परो द्विधा  
ज्ञेयः । जिनरूपध्यानं खल्वाद्यस्तत्त्वगस्त्वपरः ॥ १ ॥ ”  
( १४-१ ) सहालम्बनेन-चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रतिमादिना  
वर्तत इति सालम्बनः । आलम्बनात्-विषयभावापि रूपा-  
निष्क्रान्तो निरालम्बनः, यो हि चक्षुरस्थेन ध्यायते न च  
स्वरूपेण दृश्यते तद्विषयो निरालम्बन इति यावत् । जिनरू-  
पस्य-समवसरणस्य स्थानं खलु ‘आद्यः’ सालम्बनो  
योगः । तस्येव-जिनस्य तत्त्वं-केवलजीवप्रदेशसङ्घातरूपं के-  
वलज्ञानादिस्वभावं तस्मिन् गच्छतीति तत्त्वगः, ‘तुः’  
एवार्थे, ‘अपरः’ अनालम्बनः, अत्रारूपितत्त्वस्य स्फुटविष-  
यत्वाभावादनालम्बनत्वमुक्तम् । अधिकृतग्रन्थगाथायां च  
विषयतामात्रेण तस्यालम्बनत्वमनूद्यापि तद्विषययोगस्येषदा-  
लम्बनत्वादनालम्बनत्वमेव प्रासाधीति फलतो न कथिद्विशेष  
इति स्मर्तव्यम् । अयं चानालम्बनयोगः “ शास्त्रसंदर्शितो-  
पायस्तदतिक्रान्तगोचरः । शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण, सामर्थ्यारूपो-  
यमुननमः ॥ १ ॥ ” ( योग० समु० ३ श्लोक ) इति श्लो-  
कोन्कस्वरूपक्षेपक्षेणाद्वितीयापूर्वकरणभाविकायोपशमिकक्षा-  
न्त्यादिधर्मसन्न्यासरूपसामर्थ्ययोगतो निस्सङ्गानवरतप्रवृत्ता  
या परतत्त्वदर्शनेच्छा तल्लक्षणो मन्तव्यः, आह च—“साम-  
र्थ्ययोगतो या, तत्र दिव्येत्यसङ्गशक्त्यादित्या । साऽनालम्ब-

नयोगः, प्रोक्तस्तददर्शनं यावत् ॥ १ ॥ ” ( षोड १५-८ )  
 ‘ तत्र ’ परतत्त्वे द्रष्टुमिच्छा दिव्वज्ञा ‘ इति ’ एवंस्वरूपा  
 असङ्गशक्त्या - निरभिष्वङ्गाविच्छिन्नप्रवृत्त्या आढया - पूर्णं ‘ सा ’  
 परमात्मदर्शनेच्छा अनालम्बनयोगः, परतत्त्वस्थादर्शनं - अनु-  
 पलम्भं यावत्, परमात्मस्वरूपदर्शने तु केवलज्ञानेनालम्भ-  
 नयोगो न भवति, तस्य तदालम्बनत्वात् । अलब्धपरतत्त्व-  
 स्तल्लाभाय ध्यानरूपेण प्रवृत्तो ह्यनालम्भनयोगः, स च  
 चपकेण धनुर्धरेण चपकश्रेण्याख्यधनुर्दण्डे लक्ष्यपरतत्त्वाभि-  
 मुखं तदेधाविसंवादितया व्यापारिनो यो वाणस्तत्स्थानीयः,  
 यावत्तस्य न मोचनं तावदनालम्भनयोगव्यापारः, यदा तु  
 ध्यानान्तरिकाख्यं तन्मोचनं तदाऽविसंवादितत्पतनमात्रादेव  
 लक्ष्यवेद्ध इतीषुपातकल्पः सालम्भनः केवलज्ञानप्रकाश  
 एव भवति, न त्वनालम्भनयोगो (ग) व्यापारः, फलस्य मिद्ध-  
 त्वादिति निर्गतिलितार्थः । आह । च—“ तत्राप्रतिष्ठितोऽयं,  
 यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्तत्र । सर्वेचमानुजः खलु, तेनानाल-  
 म्भनो गीतः ॥ १ ॥ द्रागस्मात्तदर्शनमिषुपातज्ञातमात्रतो  
 ह्येयम् । एतच्च केवलं तत्, ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः ॥ २ ॥ ”  
 ( षोड १५-८, १० ) ‘ तत्र ’ परतत्त्वे ‘ अप्रतिष्ठितः ’

१ “ प्रोक्तस्तदर्शनं यावत् ” इति पाठानुसारेण यशोभद्र-  
 सूरिणा व्याख्याकृता । तथाहि—“ प्रोक्तस्तत्त्ववेदिभिः तस्य-  
 परतत्त्वस्य दर्शनमुपलम्भन्तद्यावत् ” इति ।

अलब्धप्रतिष्ठः सर्वोत्तमस्य योगस्य—अयोगाख्यस्य अनुजः—  
पृष्ठभावी ॥ ‘तद्वर्णं’ परतच्चदर्शनं ‘एतच्च’ परतच्चदर्शनं  
‘केवलं’ सम्पूर्णं ‘तद्’ प्रसिद्धं यत् तत् केवलज्ञानं ‘परं’  
प्रकृष्टं ज्योतिः स्यात् ॥ अत्र कस्यचिदाशङ्का—इषुपातज्ञातात्प-  
रतच्चदर्शने सति केवलज्ञानोत्तरमनालम्बनयोगप्रवृत्तिर्मा भूत,  
सालम्बनयोगप्रवृत्तिस्तु विशिष्टतरा काचित्स्यादेव, केवलज्ञा-  
नस्य लब्धत्वेऽपि मोक्षस्याद्यापि योजनीयत्वात्, मैवम्,  
केवलिनः स्वात्मनि मोक्षस्य योजनीयत्वेऽपि ज्ञानाकाङ्क्षाया  
श्चिप्यतया ध्यानानालम्बनत्वात्कपक्षेणिकालसम्भविवि-  
शिष्टतरयोगप्रयत्ना भावादावर्जीकरणोत्तरयोगनिरोधप्रयत्नाभां-  
वाचार्वाक्तनकेवलिव्यापारस्य ध्यानरूपत्वाभावादुक्तान्यतरयो-  
गपरिणतेरेव ध्यानलक्षणत्वात् । आह च महाभाष्यकारः—  
“ सुदृढपूर्यत्तवावारणं गिरोहो व विज्ञमाणाणं । भाणं  
करणाणं मयं, ए उ चित्तगिरोहमित्तां ॥१॥ ” (विशेषा-  
वश्यक-गाथा ३०७१) इति । स्यादेतद्, यदि क्षपकश्रेणि-  
द्वितीयापूर्वकरणभावी सामर्थ्ययोग एवानालम्बनयोगो ग्रन्थ-  
कृताऽभिहितस्तदा तदप्राप्तिमतामप्रमत्तगुणस्थानानामुपरत-  
सकलविकल्पकल्पोलमालानां चिन्मात्रप्रतिवन्धोपलब्धरत्नत्र-  
यसाप्राज्ञानां जिनकल्पिकादीनामपि निरालम्बनध्यानमसं-

१ “ सुदृढप्रयत्नव्यापारणं निरोधो वा विद्यमानानाम् ।  
ध्यानं करणानां मतं न तु चित्तनिरोधमात्रम् ॥ ”

गताभिधानं स्यादिति, मैवम्, यद्यपि तत्त्वतः परतत्त्वलक्ष्य-  
वेधाभिमुखस्तदविसंवादी सामर्थ्ययोग एव निरालम्बनस्त-  
थापि परतत्त्वलक्ष्यवेधप्रगुणतापरिणतिमात्रादवौक्तनं परमा-  
त्मगुणध्यानमपि मुख्यनिरालम्बनप्रापकत्वादेकश्येयाकारपरि-  
णतिशक्तियोगाच्च निरालम्बनमेव । अत एवावस्थात्रयभावने  
रूपातीतमिद्गुणप्रणिधानवेलायामप्रमत्तानां शुक्लध्यानांशो  
निरालम्बनोऽनुभवसिद्ध एव । संसार्यात्मनोऽपि च व्यवहा-  
रनयसिद्धमौपाधिकं रूपमाञ्छाय शुद्धनिश्चयनयपरिकल्पित-  
सहजात्मगुणविभावने निरालम्बनध्यानं दुरपह्वमेव, परमा-  
त्मतुल्यतयाऽन्मज्जानस्येव निरालम्बनध्यानांशत्वात् तस्येव  
च मोहनाशक्त्वात् । आह च—“ जो जाणइ अरिहंतं,  
दब्बत्तगुणत्तपञ्जयत्तेहि । सो जाणइ अप्पाणं, मोहो खलु जाइ  
तस्म लयं ॥ १ ॥ ” इति । तस्मादूपिद्रव्यविषयं ध्यानं  
सालम्बनं अरूपिविषयं च निरालम्बनमिति स्थितम् ॥ १६ ॥  
अथ निरालम्बनध्यानस्येव फलपरम्परामाह—

एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव ।  
तत्तो अजोगजोगो, कमेण परमं च निव्वाणं ॥ २० ॥

१ “ यां जानात्यर्हतो द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वैः । स जाना-  
त्यात्मानं मोहः खलु तम्य याति लयम् ॥ ”

‘ एयम्मि ’ ति । ‘ एतस्मिन् ’ निरालम्बनध्याने लब्धे  
मोहसागरस्य—दुरन्तरागादिभावसंतानसमुद्रस्य तरणं भवति ।  
ततश्च ‘ श्रेणिः ’ क्षपकश्रेणिर्वृद्धा भवति, सा ह अत्मा-  
दियोगप्रकर्पगभिताशयविशेषरूपा । एष एव संप्रज्ञातः  
समाधिस्तीर्थान्तरीयैर्गर्ण्यते, एतदपि सम्यग्—यथावत् प्रकर्षे-  
ण—सवितर्कनिश्चयात्मकत्वेनात्मपर्याणामर्थानां च द्वीपादी-  
नामिह ज्ञायमानत्वादर्थतो नानुपपत्तम् । ततश्च ‘ केवलमेव ’  
केवलज्ञानमेव भवति । अयं चासम्प्रज्ञातः समाधिरिति परे-  
र्गर्ण्यते, तत्रापि अर्थतो नानुपपत्तिः, केवलज्ञानेऽशेषवृत्त्यादि-  
निरोधाल्पवृथात्मस्वभावस्य मानसविज्ञानवैकल्यादसम्प्रज्ञात-  
त्वमिद्द्वेः । अयं चासंप्रज्ञातः समाधिद्विधा—सयोगिकेवलिभावी  
अयोगिकेवलिभावी च, आद्यो मनोवृत्तीनां विकल्पज्ञानरूपा-  
णामत्यन्तोच्छेदात्सम्पद्यते । अन्त्यश्च परिस्पन्दरूपाणाम्,  
अयं च केवलज्ञानस्य फलभूतः । एतदेवाह—‘ ततश्च ’  
केवलज्ञानलाभादनन्तरं च ‘ अयोगयोगः ’ वृत्तिवीजदाहायो-

१ “ वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः । ”  
(पाठं० योग० १-१७) । २ “ विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्का-  
रशोषोऽन्यः ” ( पाठं० १-१८ ) “ यदभ्यासपूर्वं चित्तं निरा-  
लम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञातः ॥ ”  
इति १-१८ सूत्रभाष्ये व्यासर्थः ।

गारुदः समाधिर्भवति, अयं च “ धर्ममेघः ” इति पातञ्जलैर्गीयते, “ अमृतात्मा ” इत्यन्यैः, “ भवशत्रुः ” इत्यपरैः, “ शिवोदयः ” इत्यन्यैः, “ सन्त्वानन्दः ” इत्येकैः, “ परश्च ” इत्यपरैः । ‘ क्रमेण ’ उपदर्शितपारम्पर्येण ततोऽयोग्योगान् ‘ परमं ’ मर्वोत्कृष्टफलं निर्वाणं भवति ॥ २० ॥

॥ इति महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्य-  
परिडतश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपरिडतश्रीनय-  
विजयगणिचरणकमलचञ्चरीकपरिडतश्रीपद-  
विजयगणिमहोदरोपाध्यायश्रीजसविजय-  
गणिसमर्थितायां विशिका प्रकरण-  
व्याख्यायां योगविशिका-  
विवरणं सम्पूर्णम् ॥



१ “ तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सन्त्वपुरुषान्वता-  
रूपातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति ” इति पातं० यो० १-२  
भाष्ये व्यासर्थः ॥



# उपाध्यायजी श्रीयशोविजयजी कृत— योगवृत्तिका सार.

—→॥५॥←—

## प्रथम पाद ।

सूत्र २—सूत्रकारने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात ऐसे दो योग-जैसा कि पा० १ सू० १७-१८-४६-५१ में कहा है—मानकर उनका ‘चित्तवृत्तिनिरोध’ ऐसा लक्षण किया है। इस लक्षणमें उन्होंने ‘सर्व’ शब्दका ग्रहण इस लिए नहीं किया है कि यह लक्षण उभययोग माध्यारण है। सम्प्रज्ञात योगमें कुछ चित्तवृत्तियाँ होती भी हैं पर असम्प्रज्ञातमें सर्व रुक्ष जाती हैं। अगर ‘सर्वचित्तवृत्तिनिरोध’ ऐसा लक्षण किया जाता तो असम्प्रज्ञात ही योग कहलाता, सम्प्रज्ञात नहीं। जब कि ‘चित्तवृत्तिनिरोध’ इतना लक्षण किया है तब तो कुछ चित्तवृत्तियोंका निरोध और सकल चित्तवृत्तियोंका निरोध ऐसा अर्थ निकलता है जो क्रमशः उक्त दोनों योगमें घट जाता है।

सूत्रकारका उपर्युक्त आशय जो भाष्यकारने नीकाला है उसको लक्ष्यमें रखकर उपाध्यायजी कहते हैं कि—सर्व-शब्दका अध्याहार न किया जाय या किया जाय, उभय-पक्षमें सूत्रगत लक्षण अपूर्ण है। क्योंकि अध्याहार न

करनेमें संप्रज्ञात योगका तो संग्रह हो जाता है पर विक्षिप्त अवस्था जो सूत्रकारकों योगरूपसे इष्ट नहीं है और जिसमें कितनीक चित्तवृत्तियोंका निरोध अवश्य पाया जाता है उसमें अतिव्याप्ति होगी । यदि उक्त अतिव्याप्तिके निरामके लिये अध्याहार किया जाय तो सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति होगी, क्योंकि उसमें सब चित्तवृत्तियाँ नहीं रुक जातीं । इस तरह ‘सर्वे’ शब्दका अध्याहार करनेमें या न करनेमें दोनों तरफ रज्जु-पाशा होनेसे ‘क्लिष्ट’ पदका अध्याहार करके “योगः क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधः” इतना लक्षण फलित करना चाहिए, जिससे न तो विक्षिप्त अवस्थामें अतिव्याप्ति होगी और न सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति । यह तो ही सूत्रको ही मंगत करनेकी बात, पर श्रीहरिभद्र जैसे आचार्यकी सम्मति बतलाकर उपाध्यायजी जैन शैर्जीके अनुमार योगका लक्षण इस प्रकार करते हैं—‘जो धर्मव्यापार-अर्थात् स्वभावोन्मुख या चेतनाभिमुख किया—ममितिगुप्ति स्वरूप है वही योग है: क्योंकि उसीसे मोक्षलाभ होता है ।’

सूत्र ११—पाद १ सूत्र ६ से ११ तकमें निरोध करने योग्य पाँच वृत्तियोंका निरूपण है । इसपर उपाध्यायजीका कहना यह है कि—सूत्रकारने वृत्तियोंके जो पाँच भेद किये हैं सो तात्त्विक नहीं किन्तु उनकी स्वचिका परिणाममात्र है । क्यों कि विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पीछली तीनों वृत्तियाँ यथार्थ तथा अयथार्थ उभयरूप देखी जाती हैं, इस-

लिये उनका समावेश प्रमाण और विपर्यय (अप्रमाण) इन दो वृत्तियोंमें ही हो जाता है। अतएव वृत्तिके दो ही विभाग करने चाहिये। यदि किसी न किसी विशेषताको लेकर अधिक विभाग करना हो तो फिर पाँच ही क्यों? ज्ञयोपशम-योग्यता की विविधताके कारण असंख्यात विभाग किये जा सकते हैं।

विषयके न होते हुए भी जो बोध सिर्फ शब्दज्ञानके बलसे होता है वह विकल्प है। जैसे 'आकाशपुष्प' ऐसा कहनेसे एक प्रकारका भास हो ही जाता है। इसी तरह 'चैतन्य यह आत्माका स्वरूप है' ऐसा सुननेसे भी भास होता है। यह दोनों प्रकारका भास विकल्प है। पहले प्रकारका विकल्प विपर्यय-कोटिमें सम्मिलित करना चाहिये, क्योंकि 'आकाशपुष्प' यह व्यवहार प्रामाणिक-सम्मत नहीं है। दूसरे प्रकारका विकल्प जिसमें भेदबोधक पृष्ठीविभक्तिके बलसे आत्मा और चैतन्यका भेद भासित होता है वह नय अर्थात् प्रमाणांशरूप है। क्योंकि ऐसे विकल्पका व्यवहार शास्त्रीय व प्रामाणिक-सम्मत है। प्रमाणांश कहनेका मतलब यह है कि व्यवहर्ताकी दृष्टि कभी भेदप्रधान और कभी अभेदप्रधान होती है। दोनों दृष्टियोंको मिलानेसे ही प्रमाण होता है। दृष्टिको अपेक्षा या नय कहते हैं। वस्तुतः आत्मा चैतन्यस्वरूप है, पर उसके अनेक स्वरूपोंमेंसे जब चैतन्यस्व-

रूपका कथन करना हो तब भेददृष्टिको प्रधान रखकर प्रामाणिक लोक भी ऐसा चोलते हैं कि चैतन्य यह आत्माका स्वरूप है। इस कथनसे यह सिद्ध है कि जो जो 'आकाशपुण्ड' आदि विकल्प अशास्त्रीय है वह सब विषयवस्तु हैं। और 'चैतन्य यह पुरुषका स्वरूप है' इत्यादि जो जो विकल्प शास्त्रप्रसिद्ध है वह सब नयरूप होनेसे प्रमाणके एक देशरूप हैं।

निद्रावृति एकान्त अभाव विषयक नहीं होती। उसमें हाथी घोड़े आदि अनेक भावोंका भी कभी कभी भास होता है, अर्थात् स्वप्न अवस्था भी एक तरहकी निद्रा ही है। इसी तरह वह सब भी होती है। यह देखा गया है कि अनेक बार जागरित अवस्थामें जैसा अनुमर हुआ हो निद्रामें भी वैसा ही भास होता है, और कभी कभी निद्रामें जो अनुमर हुआ हो वही जागनेके बाद अवशः मत्य सिद्ध होता है।

स्मृति भी यथार्थ अवश्यकी दोनों प्रकारकी होती है। अतएव विकल्प आदि तीन वृत्तियोंको प्रमाण विषयवस्तुमें अलग कहनेकी खास आवश्यकता नहीं है।

सूत्र १६—मूलकारने योगके उग्रायभूत वैराग्यके अपर और परऐसे दो भेद किये हैं, उनको जैन परिमापामें उत्तारकर उपाध्यायजी खुलासा करते हैं कि—रहला वैराग्य 'आपातधर्मसंन्यास' नामक है, जो विषयगत दोषोंकी भावनासे शुरू शुरूमें पैदा होता है। दूसरा वैराग्य 'तात्त्विकधर्मसंन्यास'

नामक है, जो स्वरूपचित्तासे होनेवाली विषयोंकी उदासी-नतासे उत्पन्न होता है। जिसका संभव आठवें गुणस्थानमें है, और जिसमें सम्यक्त्व चारित्र आदि धर्म क्षायोपशमिक अवस्था-अपूर्णता-को छोड़कर क्षायिकभाव-पूर्णता-को प्राप्त करते हैं।

सूत्र १८—मूलकारने संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात ये दो योग कहे हैं। जैन प्रक्रियाके साथ मिलान करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंबंध इन पाँच भेदोंमें जो पाँचवाँ भेद वृत्तिसंबंध है उसीमें उक्त दोनों योगका समावेश हो जाता है। आत्माकी स्थूल सूक्ष्म चेष्टायें तथा उनका कारण जो कर्मसंयोगकी योग्यता है, उसके हास-क्रमशः हानि-को वृत्तिसंबंध कहते हैं। यह वृत्तिसंबंध ग्रंथिभेदसे होनेवाले उत्कृष्टमोहनीयकर्म-बंधसंबंधी व्यवच्छेदसे शुरू होता है, और तेरहवें गुणस्थान-तकमें पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कशविचार नामक जो शुक्रध्यानके दो भेद पाये जाते हैं उनमें संप्रज्ञात योगका अंतर्भाव है। संप्रज्ञात भी जो निर्वितर्कविचारानन्दास्मितानिर्भासरूप है वह पर्यायरहितशुद्धद्रव्यविषयक शुद्धध्यानमें अर्थात् एकत्ववितर्कशविचारमें अन्तर्भूत है। असंप्रज्ञात योग केवलज्ञानकी प्राप्तिसे अर्थात् तेरहवें गुणस्थान-

कसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतकमें आजाता है। इन दो गुणस्थानोंमें जो भवोपग्राही अर्थात् अधातिकर्मका संबन्ध रहता है वही संस्कार है। और उसीकी अपेक्षासे असंप्रज्ञातको संस्कारशेष समझना चाहिये, क्योंकि उस अवस्थामें मतिज्ञानविशेषरूप संस्कारका संभव नहीं है अर्थात् उस समय द्रव्यमन होनेपर भी भावमन नहीं होता।

सूत्र १६—सूत्रकारने विदेह और प्रकृतिलयोंमें जो भवप्रत्यय (जन्मसिद्ध) योगका पाया जाना कहा है उसकी संगति जैनमतके अनुसार लवसप्तम देवों-अनुनर विमानवासी-में करनी चाहिये, क्योंकि उन देवोंको जन्मसे ही ज्ञानयोगरूप समाधि होती है।

सूत्र २६—सूत्र २४, २५, २६ में ईश्वरका स्वरूप है। भाष्यकार और टीकाकारने ईश्वरके स्वरूपके विषयमें सूत्रकारका मंतव्य दिखलाते हुए मुख्यतया उसके छह धर्म बतलाये हैं। जैसे—१ केवल सच्चगुणका प्रकर्ष, २ जगत्कर्तृत्व, ३ एकत्व, ४ अनादिशुद्धता-नित्यमुक्तता, ५ अनुग्रहेच्छा और ६ सर्वज्ञत्व।

उपाध्यायजी उक्त धर्मोंमेंसे (क) पहले दो धर्मोंको अर्थात् केवल सच्चगुणप्रकर्ष और जगत्कर्तृत्वको जैनदृष्टिसे ईश्वरमें अस्वीकार ही करते हैं, (ख) तीन धर्मोंका अर्थात् एकत्व, अनादिशुद्धता और अनुग्रहेच्छाका कथंचित् समन्वय

करते हैं, और ( ग ) एकधर्मका अर्थात् सर्वज्ञपनका सर्वथा स्वीकार करते हैं ।

( क ) सच्चगुण जो जड़ प्रकृतिका अंश है वह तथा जगत्कर्त्त्व इन दो धर्मोंका सम्बन्ध ईश्वरमें युक्तिसंगत न होनेसे जैनदर्शनको मान्य नहीं है ।

( ख ) एकत्व शब्दके संख्या और सादृश्य ये दो अर्थ होते हैं । जैनशास्त्र ईश्वरकी एक संख्या नहीं मानता, वह सभी मुक्त आत्माओंको ईश्वर मानता है । अतएव उसके अनुसार ईश्वरमें एकत्वका मतलब सदृशतासे है । जब ईश्वर कोई एक ही व्यक्ति नहीं है तब जैनप्रक्रियाके अनुसार यह भी सिद्ध है कि अनादिशुद्धता मुक्तजीवोंके प्रवाहमें ही घट सकती है, एक व्यक्तिमात्रमें नहीं । अनुग्रहकी इच्छा जो रागरूप होनेसे द्वेष सहचरित होनी चाहिये उसका तो ईश्वरमें सम्भव ही नहीं हो सकता, अतएव जैनशास्त्र कहता है कि ईश्वरोपासनाके निमित्तसे योगी जो सदाचार लाभ करता है वही ईश्वरका अनुग्रह समझना चाहिये ।

ईश्वरमें मर्वज्ञत्व जैनशास्त्रको वैसा ही मान्य है जैसा कि योगदर्शनको, पर जैनमतकी विशेषता यह है कि सर्वज्ञत्व दोपोंके नाशसे उत्पन्न होता है । अतएव वह नित्यमुक्तताका साधक नहीं हो सकता ।

स्त्र ३३—उपाध्यायजी कहते हैं कि—जैनशास्त्र भी

मैत्री आदि चार भावनाओंको चित्तशुद्धिका उपाय मानता है, और मैत्रीका अर्थ उसमें विशाल है। सूत्रमें सुखी प्राणिको ही मैत्रीभावनाका विषय बतलाया है, पर जैनाचार्य प्राणिमात्रको मैत्रीका विषय बतलाते हैं। इसके सिवाय उपाध्यायजीने षोडशकप्रकरणके चतुर्थ और तेरहवें षोडशके अनुसार चारों भावनाओंके भेद और उनका स्वरूप भी बतलाया है।

सूत्र ३४—जैनशास्त्र प्राणायामको चित्तशुद्धिका पुष्ट साधन नहीं मानता, क्योंकि उसको हठपूर्वक करनेसे मन स्थिर होनेके बदले व्याकुल हो जाता है।

सूत्र ४६—चित्तका ध्येयविषयके समानाकार बन जाना उसकी समाप्ति है। जब ध्येय स्थूल हो तब सवितर्क, निर्वितर्क और ध्येय सूक्ष्म हो तब सविचार, निर्विचार; इस तरह समाप्तिके चार भेद हैं, जो सभी सर्वीज ही हैं और संप्रज्ञात कहलाते हैं। जैनशास्त्रमें समाप्तिका मतलब उन भावनाओंसे है जो भावनायें चित्तमें एकाग्रता उत्पन्न करती हैं और जिनका अनुभव शुक्लध्यानवाले ही आत्मा करते हैं। पर्यायसहित स्थूल द्रव्यकी भावना सवितर्क समाप्ति, पर्यायरहित स्थूल द्रव्यकी भावना निर्वितर्क समाप्ति, पर्यायसहित सूक्ष्म द्रव्यकी भावना सविचार समाप्ति, और पर्यायरहित सूक्ष्म द्रव्यकी भावना निर्विचार समाप्ति है।

इन भावनाओंको मोहकी उपशम दशामें अर्थात् उपशम-  
श्रेणिमें सम्प्रज्ञात समाधिकी तरह सबीज और मोहकी दीण  
अवस्थामें अर्थात् चक्षपत्रश्रेणिमें असम्प्रज्ञात समाधिकी तरह  
निर्बाज घटा लेना चाहिये ।

**सूत्र ४६**—जैनप्रक्रियाके अनुसार श्रुतभराप्रज्ञाका स-  
मन्वय इस प्रकार है—जो समाधिप्रज्ञा दूसरे अपूर्वकरण  
अर्थात् आठवें गुणस्थानमें होनेवाले सामर्थ्ययोगके बलसे  
प्रकट होती है, और जो शास्त्रके द्वारा प्रतिपादन नहीं किये  
जा सकनेवाले अंतीन्द्रिय विषयोंको अवगाहन करती है,  
क्षतएव जो प्रज्ञा न तो केवलज्ञानरूप है और न श्रुतज्ञान-  
रूप; किन्तु जैसे रातके खत्तम होते समय और सूर्योदयके  
पहले अरुणोदयरूप संध्या रात और दिन दोनोंसे अलग  
पर दोनोंकी माध्यमिक रिथ्यतिरूप है, वैसे ही जो प्रज्ञा श्रुत-  
ज्ञानके अंतमें और केवलज्ञानके पहले प्रकट होनेके कारण  
दोनोंकी मध्यम दशा रूप है, जिसका दूसरा नाम अनुभव  
है, उसीको श्रुतभराप्रज्ञा समझना चाहिये ।

### द्वितीय पाद ।

**सूत्र १**—जैसे भाष्यमें चित्तकी प्रसन्नताको बाधित नहीं  
करनेवाला ही तप योगमार्गमें उपयोगी कहा गया है, वैसे

[ १०० ]

ही जैनशास्त्र भी अत्यन्त दुष्कर ऐसे बाह्य तप करनेकी सम्मति वहांतक ही देता है, जहांतक कि आभ्यन्तर तप अर्थात् कषायमन्दताकी वृद्धि हो, और ध्यानकी पुष्टि हो ।

जैनशास्त्रके अनुसार ईश्वरप्रणिधानका मतलब यह है कि प्रत्येक अनुष्ठान करते समय शास्त्रको दर्षितमुख रख करके तदद्वारा उसके आदि उपदेशक वीतराग प्रभुको हृदयमें स्थान देना ।

सूत्र ४—अस्मिता आदि चारों क्लेशोंकी जड अविद्या है, और चारों क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इस प्रकारकी चार चार अवस्थावाले हैं । इस विषयका समन्वय जैनपरिभाषामें इस प्रकार है—अविद्यादि पाँचों क्लेश मोहनीयकर्मके औदियिकभाव-विशेषरूप हैं । अवाधाकाल पूर्ण न होनेके कारण जबतक कर्मदलिकका निषेक ( रचनाविशेष ) न हो तबतककी कर्मावस्थाको प्रसुप्तावस्था समझना चाहिये । कर्मका उपशम और क्षयोपशम भाव उसकी तनुत्व अवस्था है । अपनी विरोधी प्रकृतिके उदयादि कारणोंसे किसी कर्म-प्रकृतिका उदय रुक जाना वह उसकी विच्छिन्न अवस्था है । उदयावलिकाको प्राप्त होना कर्मकी उदार अवस्था है ।

सूत्र ६—सूत्रकारने सूत्र ५ से ६ तकमें पाँच क्लेशोंके लक्षण कहे हुए हैं उनका जैनप्रक्रियाके अनुसार समन्वय इस प्रकार है—

अविद्याको जैनशास्त्रमें मिथ्यात्व कहते हैं। स्थानाङ्गसूत्रमें मिथ्यात्वके दस भेद दिखाये हैं। जैसे—अधर्ममें धर्म, धर्ममें अर्थर्म, अमार्गमें मार्ग, मार्गमें अमार्ग, असाधुमें साधु, साधुमें अमाधु, अजीवमें जीव, जीवमें अजीव, और अयुक्तमें युक्त, तथा युक्तमें अयुक्त ऐसी बुद्धि करना।

अस्मिता आरोपको कहते हैं आरोप दो प्रकारका है— दृश्य अर्थात् प्रपञ्चमें द्रष्टा—चेतन-का आरोप और द्रष्टामें दृश्य-का आरोप। यह दोनों प्रकारका आरोप यानि अम जैन परिभाषाके अनुमार मिथ्यात्व ही है। यदि अस्मिताको अहंकार ममकारका बीज मान लिया जाय तो वह राग या द्वेष रूप ही है।

राग और द्वेष कपायके भेद ही हैं।

अभिनिवेशका उदाहरण भाष्यकारने दिया है कि—मैं कभी न मरूं, सदा बना रहूं, अर्थात् मरणसे भय और जीवितकी आशा, यह जैनपरिभाषाके अनुमार भयसंज्ञा ही है। भयसंज्ञाकी तरह अन्य—अर्थात् आहार, मैथुन और परिग्रह-संज्ञाको भी अभिनिवेश ही समझना चाहिये, क्योंकि भयके समान आहार आदिमें भी विद्वानोंकाभी अभिनिवेश देखाजाता है। विद्वानोंमें अभिनिवेशका अभाव सिर्फ उस समय पाया जाता है जब कि वे अप्रमत्तदशामें वर्तमान हों और अप्रमत्तभावसे उन्होंने दस संज्ञाओंको रोक दिया हो। संज्ञा यह मोहका विलास या मोहसे व्यक्त होनेवाला चैतन्यका स्फुरण

ही है। इस प्रकार सभी क्लेश जैन संकेतके अनुसार मोह-  
नीयकर्मके औद्यिकभावरूप ही हैं। इसीसे योगदर्शनमें क्ले-  
शक्षयसे कैवल्यप्राप्ति और जैनदर्शनमें मोहक्षयसे कैवल्य  
प्राप्ति कही गई है।

सूत्र १०—सूच्चम—अर्थात् दग्धबीज सदृश-क्लेशोंका नाश  
चित्तके नाशके साथ ही सूत्रकारने माना है। इस बातको  
जैनप्रक्रियाके अनुसार यों कह सकते हैं कि जो क्लेश  
अर्थात् मोहप्रधान घातिकर्म दग्धबीजसदृश हुए हों, उनका  
नाश बारहवें गुणस्थानसंबंधी यथाख्यात चारित्रमें होता है।

सूत्र १३—प्रस्तुत सूत्रके भाष्यमें कर्म, उसके विपाक  
और विपाकसंबंधी नियम आदिके विषयमें मुख्य सात बातें  
ऐसी हैं जिनके विषयमें मतभेद दिखा कर उपाध्यायजीने  
जैनप्रक्रियाके अनुसार अपना मन्तव्य बतलाया है। वे सात  
बातें ये हैं—१ विपाक तीन ही प्रकारका है। २ कर्मप्रचयके  
बंध और फलका क्रम एक सा होता है, अर्थात् पूर्वबद्ध  
कर्मका फल पहले ही मिलता है और पश्चात्बद्ध कर्मका  
फल पश्चात्। ३ वासनाकी अनादिकालीनता और कर्मा-  
शयकी एकभविकता अर्थात् वासना और कर्माशयकी भि-  
ष्मता। ४ कर्माशयकी एकभविकता और प्रारब्धता। ५  
कर्माशयका उद्भोधक मरण ही है, अर्थात् जन्मभर किये

१ पा० ४ सू० ३-३४। २ तत्त्वार्थ अध्याय १० सूत्र १।

हुए कर्माशयका फल मरणके बाद ही मिलता है। ६ मरणके समय कर्माशयका फलोन्मुख होना यह उसकी प्रधानताका लक्षण है, और उस समय फलोन्मुख न होना उसकी गौणताका लक्षण है। ७ गौणकर्मका प्रधानकर्ममें आवाप-गमन अर्थात् संमिलित होकर उसमें दब जाना।

इनके विषयमें क्रमशः जैनसिद्धांत इस प्रकार है—१ विपाक तीन ही नहीं बल्कि अधिक हैं, क्योंकि वैदिक खोगोंने ही गंगामरणको अदृष्ट विशेषका फल माना है, जो सूत्रोक्त तीन विपाकोंसे भिन्न है। तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो कमसे कम ज्ञानावरण आदि आठ विपाक तो मानने ही चाहिये।

२ यह एकान्त नियम नहीं है कि जो कर्मव्यक्ति पूर्व-बद्ध हो उसका फल प्रथम ही मिले और पश्चात्बद्ध कर्मव्यक्तिका फल पीछे मिले, किन्तु कभी कभी कर्मके बन्धन और फलक्रममें विपर्यय भी हो जाता है।

३ वासना भी एकप्रकारका कर्म अर्थात् भावकर्म है अतएव वासना और कर्म ये दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं।

४ एकभविकताका नियम सिर्फ आयुष्कर्ममें ही लागू पड़ सकता है। ज्ञानावरणादि अन्य कर्म अनेकभविक भी होते हैं। प्रारब्धता-विपाकवेद्यता-का नियम भी सिर्फ आयु-

ष्कर्ममें लागू पड़ता है, क्योंकि अन्य सभी कर्म विपाकोदयके सिवाय अर्थात् प्रदेशोदयद्वारा भी भोगे जा सकते हैं।

५ मरणके सिवाय अन्य अर्थात् द्रव्य, चेत्र, काल आदि निमित्त भी कर्माशयके उद्घोधक होते हैं।

६ मरणके समय अवश्य उदयमान होनेवाला कर्म आयु ही है, इस लिये यदि प्रधानता माननी हो तो वह सिफ आयुष्कर्ममें ही घटाई जा सकती है, अन्य कर्मोंमें नहीं।

७ गौणकर्मका प्रधानकर्ममें आवापगमन होता है यह बात गोल-माल जैसी है। आवापगमनका पूरा भाव संक्रमणविधिको विना जाने ध्यानमें नहीं आसकता, इस लिये कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह आदि ग्रन्थोंमेंसे संक्रमणका विचार जान लेना चाहिये।

सूत्र १५—सूत्रकारने संपूर्ण दश्यप्रपञ्चको विवेकिके लिये दुःखरूप कहा है, इस कथनका नयदृष्टिसे पृथकरण करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि दश्यप्रपञ्च दुःखरूप है सो निश्चय-दृष्टिसे, व्यवहारदृष्टिसे तो वह सुख दुःख उभयरूप है। इस पृथकरणकी पुष्टि वे सिद्धसेनादिवाकरके एक सुतिवाक्यसे करते हैं। उस वाक्यका भाव इस प्रकार है “हे वीतराग ! तूने अनंत भवदीजको फेंक दिया है, और अनंत ज्ञान प्राप्त किया है, फिर भी तेरी कला न तो कम हुई है और न अधिक, तू तो समभाव अर्थात् एक रूपताको ही तारण, धारण

किये हुए है।” इसमें जो अनंत भवभीजका फेंकना कहा गया है सो संसारको निश्चयदृष्टिसे दुःखरूप माननेसे ही घट सकता है।

सूत्र १६—इसमें भाष्यकारने सृष्टिसंहार क्रमको सांख्यसिद्धांतके अनुसार वर्णन किया है। सांख्यशास्त्र सत्कार्यवाद मानता है अर्थात् असत् का उत्पाद और सत् का अभाव नहीं मानता। इसपर उपाध्यायजी कहते हैं कि— उक्त सिद्धांत एकांतरूप नहीं मानना चाहिये, क्योंकि एकांतरूप मान लेनेमें प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका अस्तीकार करना पड़ता है, जिसमें कार्यमें अनादि-अनंतताका प्रसंग आता है जो इष्ट नहीं है। इमलिये उक्त दोनों अभाव मान कर कथंचित् असत् का उत्पाद और सत् का अभाव मानना चाहिये। ऐसा मान लेनेसे वस्तुमात्रकी द्रव्यपर्याय-रूपता घट जायगी, और इससे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप जो वस्तुमात्रका त्रिरूप लक्षण है वह भी घटित हो जायगा।

सूत्र ३१—सूत्रकारने जाति, देश, काल और समय-आचार व कर्तव्य-के बंधनसे रहित अर्थात् सार्वभौम ऐसे पाँच यमोंको महात्रत कहा है। इस विषयमें जैनप्रक्रिया बतलाते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि—सर्व शब्दके साथ अहिंसादि पाँच यमोंकी जब प्रतिज्ञा की जाती है तब वे महात्रत कहलाते हैं, और देश शब्दके साथ जब उनकी प्रतिज्ञा ली जाती है तब वे अणुत्रत कहलाते हैं।

सूत्र ३२—भाष्यकारने दो प्रकारका शौच कहा है, बाह्य और आभ्यंतर। शुद्ध भोजन, पान तथा मिठी और जलसे होने वाला शौच बाह्य शौच है, और चित्तके दोषोंका संशोधन आभ्यंतर शौच है।

जैन परिभाषाके अनुसार बाह्य शौच द्रव्यशौच कहलाता है और आभ्यंतर शौच भावशौच कहलाता है। जैन शास्त्रमें भावशौचको बाधित न करनेवाला ही द्रव्यशौच ग्राह्य माना गया है। उदाहरणार्थं शृंगार आदि वासनामें प्रेरित होकर जो स्थान आदि शौच किया जाता है वह ग्राह्य नहीं है।

सूत्र ५५—इसके भाष्यमें इन्द्रियोंकी परमवश्यताका स्वरूप और उसका उपाय ये दो बातें मुख्य हैं। भाष्यकारने अनेक मतभेद दिखा कर अन्तमें अपने मतसे परमवश्यताका स्वरूप दिखाते हुए लिखा है कि इन्द्रियोंके निरोधको अर्थात् शब्दादि विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संबंध रोक देनेको परमवश्यता ( परमजय ) कहते हैं। परमवश्यताका उपाय उन्होंने चित्त निरोधको माना है।

इन दोनों बातोंके विषयमें जैन मान्यतानुसार मतभेद दिखाते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि—इन्द्रियोंका निरोध उनकी परमवश्यता नहीं है, किन्तु अच्छे या बुरे शब्द आदि विषयोंके साथ कर्ण आदि इन्द्रियोंका संबंध होनेपर भी तत्त्व ज्ञानके बलसे जो रागद्वेषका पैदा न होना वही इन्द्रियोंकी परमवश्यता है। परमवश्यताका एक मात्र उपाय ज्ञान ही

है, चित्तनिरोध नहीं। ज्ञान भी ऐसा समझना चाहिये जो अध्यात्म भावनासे होनेवाले समभावके प्रवाहवाला हो, यही ज्ञान राजयोग कहलाता है। सारांश यह है कि चित्तका जय हो या बाह्य इन्द्रियोंका जय हो सबका मुख्य उपाय उक्त ज्ञानरूप राजयोग ही है, प्राणायाम आदि हठयोग नहीं। क्योंकि विकासमार्गमें विप्ररूप होनेसे हठयोगके अभ्यासका शास्त्रमें बार बार निषेध किया है।

### तृतीय पाद.

सूत्र ५५—इसके भाष्यमें भाष्यकारने सांख्यसिद्धांतके अनुसार योगदर्शनका सिद्धांत बतलाते हुए मुख्य तीन बातें लिखी हैं। ( १ ) कैवल्य अर्थात् मुक्तिका मतलब भोगके अभावसे है। भोग सुख, दुःख, ज्ञान आदिरूप है जो वास्तवमें प्रकृतिका विकार है, आत्मा-पुरुष-का नहीं। पुरुष तो कूटस्थ-नित्य होनेसे वास्तवमें न तो बढ़ है और न मृक्त। इसलिये पुरुषकी मुक्तिका मतलब उसमें आरोपित भोगके अभावमात्रसे है। ( २ ) विवेकरूपाति अर्थात् जड़ चेतनका भेदज्ञान ही मोक्षका मुख्य उपाय है। भेदज्ञान हो जानेसे अविद्या आदि क्रेश और कर्मविपाकका अभाव हो जाता है। इस अभावका होना ही मुक्ति है। मुक्तिके पूर्वमें सर्वज्ञत्व ( सर्ववेष्यक ज्ञान ) किसीको होता है और

किसीको नहीं ( ३ ) जिसको सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है उसको भी मुक्ति प्राप्त होनेपर अर्थात् मन, शरीर आदि छूट जाने पर वह नहीं रहता, क्योंकि सर्वज्ञत्व यह मनका कार्य है आत्माका नहीं, आत्मा तो कूटस्थ-निर्विकार चेतनस्वरूप है।

इन तीनों बातोंके विषयमें जैनगाथ्यका जो मतभेद है उसीको उपाध्यायजीने दिखाया है—( १ ) सुख, दुःख आदिरूप भोग संसार अवस्थामें आत्माका वास्तविक विकार है, मनका नहीं । इसलिये मुक्तिका मतलब संमारकालीन वास्तविक भोगके अभावसे है, आरोपित भोगके अभावसे नहीं । ( २ ) विवेकरूप्याति (जैन परिभाषानुसार सम्यग्दर्शन) से और द्वेष आदिके अभावसे मोक्ष होता है सही, पर द्वेषका अभाव होते ही सर्वज्ञत्व अवश्य प्रकट होता है । मुक्तिके पहले द्वेषकी निवृत्ति अवश्य हो जाती है, और द्वेष (मोह)की निवृत्ति हो जाने पर सर्वज्ञत्व (केवलज्ञान) अवश्य हो जाता है । ( ३ ) मुक्ति पानेवाले सभी आत्मा-आओंको सर्वज्ञत्व नियमसे प्रकट होता है इतना ही नहीं, बल्कि वह प्रकट होने पर कायम रहता है, अर्थात् मुक्ति होने पर चला नहीं जाता । क्योंकि सर्व विषयक ज्ञान करना यह आत्माका स्वभाव है, मनका नहीं । संसारदशामें आत्माको ऐसा ज्ञान न होनेका कारण उसके ऊपर आवरणका होना है । मोक्षदशामें आवरणके न रहनेसे उक्त ज्ञान आप ही

[ १०६ ]

आप हुआ करता है, ऐसा ज्ञान होते रहनेसे आत्मामें कूट-स्थल्वके भंगका जो दृश्य दिया जाता है वह जैन शास्त्रका भूपण है। क्योंकि जैन शास्त्र केवल जड़ ( प्रकृति ) को ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप नहीं मानता, किन्तु चेतनको भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप मानता है।

### चतुर्थ पाद.

सूत्र १२—प्रस्तुत सूत्रमें वस्तुके प्रत्येक धर्मकी भावि, भूत और वर्तमान ऐसी तीन अवस्थायें मान कर उसमें अध्यभेद अर्थात् कालक्रृत भेदका समावेश बतलाया गया है, और वर्तमानकी तरह भूत तथा भावि अवस्थाका भी अपने अपने स्वरूपमें प्रत्येक धर्मके साथ संबंध है ऐसा कहा है।

इस मन्तव्यका जैन प्रक्रियाके साथ मिलान करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि वस्तुको द्रव्यपर्यायरूप माननेसे ही पूर्वोक्त अध्यभेदकी व्यवस्था घट सकती है अन्यथा नहीं। वस्तुको द्रव्यपर्यायरूप मान लेना यही स्याद्वाद है। ऐसा स्याद्वाद मान लेनेसे ही सब प्रकारके वचन-व्यवहारकी ठीक ठीक सिद्धि हो जाती है।

सूत्र १४—सूत्रकारने सांख्य प्रक्रियाके अनुसार त्रिगुणात्मक प्रकृतिका एक परिणाम मान कर कार्यमें एकताके

व्यवहारका समर्थन किया है। इस प्रक्रियाके स्वरूपके द्वारा स्याद्वाद पद्धतिका समर्थन करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि एकसे अनेक और अनेकसे एक परिणाम माननेवाली स्याद्वाद शैलीका स्वीकार करने ही से उक्त सांख्य प्रक्रिया घट सकती है।

सूत्र १—इस सूत्रमें आत्माको अपरिणामी सावीत किया है। इसका समर्थन करते हुए भाष्यकारने कहा है कि शब्द आदि विषय कभी जाने जाते हैं और कभी नहीं। इसलिए चित्त तो परिणामी है, परंतु चित्तकी वृत्तियाँ कभी अज्ञात नहीं रहतीं। इसलिए आत्मा अपरिणामी अर्थात् कूटस्थ ही है। इस मन्तव्यका प्रतिवाद करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि—जैसा चित्त परिणामी है वैसा आत्मा भी। आत्माको परिणामी मान लेने पर भी चित्तकी सदाज्ञाततामें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि चित्त ज्ञान-रूप है और ज्ञान आत्माका धर्म है। धर्म होनेसे वह आत्माके सञ्चिहित होनेके कारण कभी अज्ञात नहीं रहता। शब्द आदि विषय कभी ज्ञात, और कभी अज्ञात होते हैं। इसका कारण यह है कि शब्द आदि विषयका इन्द्रियके साथ जो व्यञ्जनाव-ग्रहरूप सम्बन्ध है वह सदा नहीं रहता अर्थात् कभी होता है और कभी नहीं। यद्यपि इन्द्रियके द्वारा शब्द आदि विषय सदा नहीं जाने जाते परन्तु केवल ज्ञानद्वारा सदा ही

जाने जाते हैं। क्योंकि केवलज्ञानमें एक ऐसी शक्ति है जिसमें वह शब्द आदि विषयोंको सदा ही जान लेता है।

सूत्र २३—उन्नीससे तेईसतकके पाँच सूत्रोंमें सूत्रकारने जो कुछ चर्चा की है उससे आत्माके विषयमें सांख्यसिद्धान्तसम्मत तीन बातें मुख्यतया मालूम होती हैं। वे ये हैं—  
 ( १ ) चैतन्यकी स्वप्रकाशता । ( २ ) जो चैतन्य अर्थात् चिति-शक्ति है वही चेतन है अर्थात् चिति शक्ति स्वयं स्वतंत्र है। वह किसीका अंश नहीं है और उसके भी कोई अंश नहीं हैं। अतएव वह निर्गुण है।  
 ( ३ ) चिति-शक्ति सर्वथा कूटस्थ होनेसे निलेप है। इन बातोंके विषयमें जैन मन्तव्यके अनुसार मतभेद दिखाते हुए उपाध्यायजी अन्तमें कहते हैं कि ये बातें किसी नयकी अपेक्षासे मान्य की जा सकती हैं सर्वथा नहीं। उक्त बातोंके विषयमें मतभेद क्रमशः इस प्रकार है—

( १ ) चैतन्य स्वप्रकाश भी है और परप्रकाश भी। उसकी स्वप्रकाशता अग्रिके प्रकाशके समान अन्य पदार्थके संयोगके सिवाय ही प्रत्येक प्राणिको अनुभव-सिद्ध हैं। चैतन्यकी परप्रकाशता आवरणदशामें विषयके सम्बंधके अधीन है और अनावरण-दशामें स्वाभाविक है।

( २ ) चैतन्य यह शक्ति ( गुण ) अर्थात् अन्य मूल तत्त्वका अंश है, वह अन्य तत्त्व चेतन या आत्मा है।

उसमें चैतन्यकी तरह दूसरे भी अनन्त गुण ( शक्तियाँ ) हैं, अर्थात् आत्मा अनंत गुणोंका आधार है। वह जो निर्गुण कहा जाता है उसका मतलब उसमें प्राकृतिक गुणोंके अभावसे है।

( ३ ) आत्मा एकात्-निर्लेप नहीं है उसमें संसार-अवस्थामें कथंचित् लेपका भी संभव है।

सूत्र ३१—भाष्यकारने प्रस्तुत सूत्रके भाष्यमें सांख्य मतके अनुसार ज्ञानको सत्त्वगुणका कार्य कह कर उसे प्राकृतिक बतलाया है, और कहा है कि निरावरण दशामें ज्ञान अनन्त हो जाता है जिससे उसके सामने सभी ज्ञेय (विषय) अल्प बन जाते हैं, जैसे कि आकाशके सामने जुगन्। इन दोनों बातोंका विरोध करते हुए वृत्तिकार जैन-मन्तव्यको इस प्रकार दिखाते हैं—ज्ञान प्राकृतिक अर्थात् अचैतन्य नहीं है किन्तु वह चैतन्यरूप है। यह बात नहीं कि ज्ञानके अनन्त हो जानेके समय सभी ज्ञेय अल्प हो जाते हैं, बल्कि ज्ञानकी अनन्तता ज्ञेयकी अनन्तता पर ही अवलम्बित है अर्थात् ज्ञेय अनन्त हैं। अतएव उन सबको जाननेवाला निरावरण ज्ञान भी अनन्त कहलाता है।

सूत्र ३२—इसकी व्याख्यामें भाष्यकारने क्रमका स्वरूप दिखाते हुए कहा है कि नित्यता दो प्रकारकी है। ( १ ) कृतस्थ-नित्यता अर्थात् अपरिणामितत्व। ( २ ) परिणामि-

[ ११३ ]

नित्यता अर्थात् परिवर्तनशील तत्त्व । इनमेंसे पहली नित्यता पुरुष ( आत्मा ) में है और दूसरी प्रकृतिमें ।

इस पर जैन मतभेद दिखाते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि—  
कूटस्थनित्यता माननेमें कोई सबूत नहीं । आत्मा हो या प्रकृति सभीमें परिणामिनित्यता ही है, अर्थात् वस्तुमात्रमें द्रव्यरूपसे नित्यता और पर्यायरूपसे अनित्यता युक्तिसंगत होनेके कारण सबका एकमात्र लक्षण “ उत्पाद, व्यय, प्रौद्य ” ऐसा ही करना चाहिये ।



## योगविंशिकाका सार.

गाथा १—मोक्ष-प्राप्तिमें उपयोगी होनेके कारण यद्यपि सब प्रकारका विशुद्ध धर्म-व्यापार योग ही है तथापि यहाँ विशेष रूपसे स्थान आदि सम्बन्धी धर्म-व्यापारको ही योग जानना चाहिए ॥

खुलासा—जिस धर्म-व्यापारमें प्रणिधान, प्रवृत्ति, विभजय, सिद्धि और विनियोग इन पाँच भावोंका सम्बन्ध हो वही धर्म-व्यापार विशुद्ध है । इसके विपरीत जिसमें उक्त भावोंका सम्बन्ध न हो वह क्रिया योगरूप नहीं है । उक्त प्रणिधान आदि भावोंका स्वरूप इस प्रकार है—

( १ ) अपनेसे नीचेकी कोटीवाले जीवोंके प्रति द्वेष न रख कर परोपकारपूर्वक अपनी वर्तमान धार्मिक भूमिकाके कर्तव्यमें सावधान रहना यह प्रणिधान है ।

( २ ) वर्तमान धार्मिक भूमिकाके उद्देश्यसे किया जानेवाला और उसके उपायकी पद्धतिसे युक्त जो चञ्चलता-रहित तीव्र प्रयत्न वह प्रवृत्ति है ।

( ३ ) जिस परिणामसे धार्मिक प्रवृत्तिमें विभ नहीं आते वह विभ-जय है । विभ तीन तरहके होते हैं, १ भूख, प्यास आदि परीषह, २ शारीरिक-रोग और ३ मनो

[ ११५ ]

विभ्रम । ये विभ्र धार्मिक प्रवृत्तिमें वैसे ही बाधा डालनेवाले हैं जैसे कहीं प्रयाण करनेमें रास्तेके काँटे-पथर, शरीर-गत ज्वर और मनोगत दिग्भ्रम । तीन तरहका विघ्न होनेसे उसका जय भी तीन प्रकारका समझना चाहिये ।

( ४ ) ऐसी धार्मिक भूमिकाको प्राप्त करना जिसमें बड़ोंके प्रति बहुमानका भाव हो, वरावरीवालोंके प्रति उपकारकी भावना हो और कम दरजेवालोंके प्रति दया, दान तथा अनुकंपाकी भावना हो वह सिद्धि है ।

( ५ ) अहिंसादि जो धार्मिक भूमिका अपनेको सिद्ध हुई हो उसे योग्य उपायोंके द्वारा दूसरोंको भी प्राप्त कराना यह विनियोग है ॥

स्थान आदि क्या क्या है और उसमें योग कितने प्रकारका है यह दिखलाते हैं—

गाथा २—स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलंबन और अनालंबन ये योगके पाँच भेद हैं । इनमेंसे पहले दो कर्मयोग हैं और पिछले तीन ज्ञानयोग हैं ॥

खुलासा—(१) काथोत्सर्ग, पर्यकामन, पद्मासन आदि आसनोंको स्थान कहते हैं । (२) प्रत्येक क्रिया आदिके समय जो सूत्र पढ़ा जाता है उसे ऊर्ण अर्थात् वर्ण या शब्द समझना चाहिए । (३) अर्थका मतलब सूत्रार्थके ज्ञानसे है । (४) बाह्य प्रतिमा आदिका जो ध्यान वह आलंबन

है । ( ५ ) रूपी द्रव्यके आलंबनसे रहित जो शुद्ध चैतन्य-मात्रकी समाधि वह अनालंबन है । स्थान तो स्वयं ही क्रियारूप है और सूत्रका भी उच्चारण किया जाता है इसीलिए स्थान तथा ऊर्णको कर्मयोग कहा है । ऊपर की हुई व्याख्यासे यह स्पष्ट है कि अर्थ, आलंबन और अनालंबन ये तीनों ज्ञानयोग हैं । योगका मतलब मोक्षके कारणभूत आत्म-व्यापारसे है । स्थान आदि आत्म-व्यापार मोक्षके कारण हैं इसलिए उनकी योग-रूपता सिद्ध है ॥

स्थान आदि उक्त पाँच योगके अधिकारिओंको बतलाते हैं—

गाथा ३—देशचारित्रवाले और सर्वचारित्रवालेको यह स्थान आदि योग अवश्य होता है । चारित्रवालेमें ही योगका संभव होनेके कारण जो चारित्ररहित अर्थात् अपुर्नवृद्धक और सम्यग्दृष्टि हो उसमें उक्त योग वीजमात्ररूपसे होता है ऐसा कोई आचार्य मानते हैं ॥

खुलासा—योग क्रियारूप हो या ज्ञानरूप, पर वह चारित्रमोहनीयकर्मके ज्योपशम अर्थात् शिथिलताके होनेपर अवश्य प्रकट होता है । इसीलिए चारित्री ही योगका अधिकारी है, और यही कारण है कि ग्रन्थकार हरिभद्रस्म-

१ जो फिरसे मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति नहीं बांधता वह अपुर्नवृद्धक कहलाता है ।

रिने स्वयं योगविंदुमें अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय इन पाँच योगोंकी संपत्ति चारित्रमें ही मानी है। यह प्रश्न उठ सकता है कि जब चारित्रीमें ही योगका संभव है तब निश्चयदृष्टिसे चारित्रहीन किन्तु व्यवहार-मात्रसे श्रावक या साधुकी क्रिया करनेवालेको उस क्रियासे क्या लाभ, इसका उत्तर ग्रंथकारने यही दिया है कि—“ व्यवहार-मात्रसे जो क्रिया अपुनर्बंधक और सम्यग्दृष्टिके द्वारा की जाती है वह योग नहीं किन्तु योगका कारण होनेसे योगका बीजमात्र है। जो अपुनर्बंधक या सम्यग्दृष्टि नहीं है किन्तु सकृद्वंधक या द्विर्बंधक आदि है उसकी व्यावहारिक क्रिया भी योगबीजरूप न होकर योगभास अर्थात् मिथ्या-योगमात्र है। अध्यात्म आदि उक्त योगोंका समावेश इस ग्रंथमें वर्णित स्थान आदि योगोंमें इस प्रकार है—अध्यात्मके अनेक प्रकार हैं। देव-सेवारूप अध्यात्मका समावेश स्थानयोगमें, जपरूप अध्यात्मका समावेश ऊर्णा-योगमें और तत्त्वचित्तनरूप अध्यात्मका समावेश अर्थयोगमें होता है। भावनाका भी समावेश उक्त

? जो मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति एक बार बांधनेवाला हो वह सकृद्वंधक या सकृदावर्तन कहलाता है और जो वैसी स्थिति दो बार बांधनेवाला हो वह द्विर्बंधक या द्विगवर्तन कहलाता है।

तीनों योगमें ही समझना चाहिये । ध्यानका समावेश आ-  
संबन्ध योगमें है और समता तथा वृत्तिसंबन्धका समावेश  
अनालंबन योगमें होता है ॥

स्थान आदि योगके भेद दिखाते हैं—

गाथा ४—उक्त स्थान आदि प्रत्येक योग तत्त्वदृष्टिसे  
चार चार प्रकारका है । ये चार प्रकार शास्त्रमें ये हैं—इच्छा,  
प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि ॥

उक्त इच्छा आदि भेदोंका स्वरूप बतलाते हैं—

गाथा ५, ६—जिस दशामें स्थान आदि योगवालोंकी  
कथा सुन कर प्रीति होती हो और जिसमें विधिपूर्वक अनुष्ठान  
करनेवालोंके प्रति बहुमानके साथ उज्ज्वासभरे विविध प्रकारके  
सुंदर परिणाम अर्थात् भाव पैदा होते हों वह योगकी दशा  
इच्छा-योग है । प्रवृत्तियोग वह कहलाता है जिसमें सब  
अवस्थामें उपशमभावपूर्वक स्थान आदि योगका पालन हो ॥

जिस उपशमप्रधान स्थान आदि योगके पालनमें  
अर्थात् प्रवृत्तिमें योगके बाधक कारणोंकी चिंता न हो वह  
स्थिरता योग है । स्थानादि सब अनुष्ठान दूसरोंका भी  
हितसाधक हो तब वह सिद्धियोग है ॥

खुलासा—हर एक योगकी चार अवस्थायें होती हैं,  
जो क्रमशः इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धियोग कहलाते  
हैं । ( १ ) जिस अवस्थामें द्रव्य, क्षेत्र आदि अनुकूल

[ ११६ ]

साधनोंकी कमी होनेपर भी ऐसा उद्घास प्रकट हो जिसमे शास्त्रोक्त विधिके प्रति बहुमान-पूर्वक अल्पमात्र योगाभ्यास किया जाय वह अवस्था इच्छायोग है । ( २ ) जिस अवस्थामें वीयोंद्वासकी प्रबलता हो जानेसे शास्त्रानुसार सांगोपांग योगाभ्यास किया जाय वह प्रवृत्तियोग है । ( ३ ) प्रवृत्तियोग ही स्थिरतायोग है, पर अंतर दोनोंमें इतना ही है कि प्रवृत्तियोगमें अतिचार अर्थात् दोषका डर रहता है और स्थिरतायोगमें डर नहीं रहता । ( ४ ) सिद्धियोग उस अवस्थाका नाम है जिसमें स्थानादि योग उमका आचरण करनेवाले आत्मामें तो शांति पैदा करे ही, पर उस आत्माके संसर्गमें आनेवाले साधारण प्राणियोंपर भी शांतिका असर ढाले । सारांश यह है कि सिद्धियोगवालेके संसर्गमें आनेवाले हिंसक प्राणी भी हिंसा करना छोड़ देते हैं और असत्यवादी भी असत्य बोलना छोड़ देते हैं अर्थात् उनके दोष शांत हो जाते हैं ।

उक्त इच्छा आदि योगभेदोंके हेतुओंको कहते हैं—

गाथा ७—ये विविध प्रकारके इच्छा आदि योग प्रस्तुत स्थान आदि योगकी श्रद्धा, प्रीति आदिके सम्बन्धमे भव्य प्राणिओंको तथाप्रकारके क्षयोपशमके कारण होते हैं ॥

खुलासा—इच्छा आदि चारों योग आपसमें एक दूसरेसे भिन्न तो हैं ही, पर उन सबमेंसे एक एक योगके

भी असंख्य प्रकार हैं। इस विविधताका कारण चयोपशम-  
भेद अर्थात् योग्यताभेद है। यहाँ भव्यप्राणिका मतलब  
अपुनवधक तथा सम्यग्दृष्टि आदिसे है ॥

इच्छा आदि योगोंका कार्य—

गाथा ८—इन इच्छा आदि उक्त चारों योगोंके कार्य  
क्रमसे अनुक्रम्या, निर्वेद, संवेग और प्रशम है ॥

खुलासा—अनुक्रम्या आदिका स्वरूप इस प्रकार है—  
( १ ) दुःखित प्राणिओंके भीतरी और बाहरी दुःखोंको  
यथाशक्ति दूर करनेकी जो इच्छा वह अनुक्रम्या है। ( २ )  
संसाररूप कैदखानेकी निःसारता जान कर उससे विरक्त  
होना निर्वेद है। ( ३ ) मोक्षकी अभिलाषाको संवेग कहते  
हैं। ( ४ ) काम, क्रोधकी शान्ति प्रशम है ॥

अब स्थान आदि योगभेदोंको दृष्टांतमें घटा लेनेकी  
खचना करते हैं—

गाथा ९—इस प्रकार योगका सामान्य और विशेष  
स्वरूप तो दिखाया गया परंतु उसकी जो चैत्यवंदनरूप  
दृष्टांतके साथ स्पष्ट घटना है अर्थात् उसको चैत्यवंदनमें  
जैसे विभाग-पूर्वक उतार कर घटाया जा सकता है उसे  
ठीक ठीक तत्त्वज्ञको समझ लेना चाहिये ॥

अब चैत्यवंदनमें योग घटा देते हैं—

गाथा १०—जब कोई श्रद्धावाला व्यक्ति 'अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सन्गं' इत्यादि चैत्यवंदन सूत्रका यथाविधि ( शुद्ध ) उच्चारण करता है तब उसको शुद्ध उच्चारणसे चैत्यवंदनसूत्रके पदोंका यथार्थ ज्ञान होता है ।

खुलासा—स्वर, संपदाँ और मात्राँ आदिके नियमसे शुद्ध वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना यह यथाविधि उच्चारण अर्थात् वर्णयोग है । वर्णयोगका फल यथार्थ पदज्ञान है, अतएव जब चैत्यवन्दन सूत्र पढ़ते समय वर्णयोग हो तभी सूत्रके पदोंका ज्ञान यथार्थ हो सकता है ।

गाथा ११—यह यथार्थ पदज्ञान अर्थ तथा आलंबन योगवालेके लिए बहुत कर आविष्यरीत ( साक्षात् मोक्ष देनेवाला ) होता है और अर्थ तथा आलम्बन-योगरहित किन्तु स्थान तथा वर्ण योगवालेके लिए केवल श्रेय ( परम्परासे मोक्ष देनेवाला ) होता है ।

खुलासा—जो अनुष्ठान मोक्षको देनेवाला हो वह स-दनुष्ठान है । सदनुष्ठान दो प्रकारका है, पहला शीघ्र ( साक्षात् ) मोक्ष देनेवाला, दूसरा विलंबसे ( परम्परासे ) मोक्ष देनेवाला । पहलेको अमृतानुष्ठान और दूसरेको तद्रेतु-अनुष्ठान कहते हैं ।

---

१ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित । २ विश्रान्तिस्थान । ३ द्रस्त्व, दीर्घ, प्लुत ।

चैत्यवंदन एक प्रारम्भिक अनुष्ठान है, इसलिए यह विचारना चाहिये कि वह अमृतानुष्ठानका रूप कब धारण करता है और तदेतु-अनुष्ठानका रूप कब धारण करता है।

जब चैत्यवंदन-क्रियामें स्थान, वर्ण, अर्थ और आलंबन इन चारों योगोंका सम्बन्ध हो तब वह अमृतानुष्ठान है और जब उसमें स्थान, वर्ण-योगका तो सम्बन्ध हो किन्तु अर्थ, आलम्बन-योगका सम्बन्ध न हो पर उनकी रूचि मात्र हो तब वह तदेतु-अनुष्ठान है।

जब विधिके अनुसार आसन जमा कर शुद्ध उच्चारण-पूर्वक सूत्र पढ़ कर चैत्यवंदन किया जाता है और साथ ही उन सूत्रोंके अर्थ (तात्पर्य) तथा आलम्बनमें उपयोग रहता है तब वह चैत्यवंदन उक्त चारों योगोंसे संपन्न होता है ऐसा चैत्यवंदन भावक्रिया है, क्योंकि उसमें अर्थ तथा आलंबन योगमें उपयोग रखने रूप ज्ञान-योग वर्तमान है। यथाविधि आसन बांध कर शुद्ध रीतिसे सूत्र पढ़ कर चैत्यवंदन किया जाता हो पर उस समय सूत्रके अर्थ तथा आलंबनमें उपयोग न हो तो वह चैत्यवंदन ज्ञानयोगशून्य होनेके कारण द्रव्यक्रियारूप है, ऐसी द्रव्यक्रियामें अर्थ, आलंबन-योगका अभाव

---

१ चैत्यवंदनकी चार स्तुतियोंमें पहलीका आलम्बन विशेष तीर्थकर, दूसरीका सामान्य नीर्थकर, तीसरीका प्रवचन और चौथीका शासनदेवता है।

होनेपर भी उसकी तीव्र रुचि हो तो वह द्रव्यक्रिया अन्तमें भावक्रियाके द्वारा कभी न कभी मोक्षको देनेवाली मानी गई है, इसीसे वैसी क्रियाको तदेतु-अनुष्टान और उपादेय कहा है ॥

स्थान आदि योगोंके अभावमें चैत्यवंदन केवल निष्फल ही नहीं बल्कि अनिष्टफलदायक होता है, इसलिए योग्य अधिकारीको ही वह सिखाना चाहिये ऐसा वर्णन करते हैं—

गाथा १२—जो व्यक्ति अर्थ, आलंबन इन दो योगोंमें शून्य होकर स्थान तथा वर्ण योगसे भी शून्य हैं उनका वह अनुष्टान कायिक चेष्टामात्र अर्थात् निष्फल होता है अथवा मृषावादरूप होनेसे विपरीत फल देनेवाला होता है, इसलिए योग्य अधिकारिओंको ही चैत्यवन्दन सूत्र सिखाना चाहिये ॥

खुलासा—जो अनुष्टान निष्फल या अनिष्टफलदायक हो वह असदनुष्टान है । इसके तीन प्रकार हैं, ( १ ) अनुष्टान ( २ ) गरानुष्टान ( ३ ) विषानुष्टान । चैत्यवन्दनमें ही यह देख लेना चाहिये कि वह कब किस प्रकारके असदनुष्टानका रूप धारण करता है ।

जिस चैत्यवन्दनक्रियामें न अर्थ, आलंबन योग है न उनकी रुचि है और न स्थान, वर्ण-योगका आदर ही है वह क्रिया संमूर्च्छिम जीवकी प्रवृत्तिकी तरह मानसिकउपयोगशून्य होनेके कारण निष्फल है; इसी निष्फल क्रियाको

[ १२४ ]

अननुष्टान समझना चाहिये । इसी तरह चैत्यवंदन करते समय “ ठाणेण मोणेण भाणेण अप्पाण वोसिरामि ” इन पदोंसे स्थान, मौन, और ध्यान आदिकी प्रतिज्ञा की जाती है । ऐसी प्रतिज्ञा करनेके बाद स्थान, वर्ण आदि योगका भंग किया जाय तो वह चैत्यवन्दन महामृषावाद होनेसे निष्फल ही नहीं बल्कि कर्मवंधका कारण होनेसे अनिष्टफलदायक अतएव अननुष्टान है ।

स्थान, वर्ण आदि योगोंका सम्बन्ध होनेपर भी जो चैत्यवन्दन स्वर्ग आदि पारलौकिक सुखके उद्देश्यसे किया जाता है वह गरानुष्टान और जो धन, कीर्ति आदि ऐंहिक सुखकी इच्छासे किया जाता है वह विषानुष्टान है । गरानुष्टान और विषानुष्टान मृषावादरूप है, क्योंकि पारलौकिक और ऐंहिक सुखकी कामनासे किये जानेके कारण उनमें मोक्षकी प्रतिज्ञाका स्पष्ट भङ्ग है । इस प्रकार अननुष्टान, गरानुष्टान और विषानुष्टान ये तीनों चैत्यवंदन हेय हैं । इसी कारणसे योग्य अधिकारिओंको ही चैत्यवंदनसूत्र सिखानेको शास्त्रमें कहा गया है । इस चैत्यवंदनके उदाहरणसे अन्य सब क्रियाओंमें सदनुष्टान और असदनुष्टानका रूप स्वयं घटा लेना चाहिये ॥

चैत्यवन्दनके लिए योग्य अधिकारी कौन हैं यह दिखाते हैं—

गाथा १३—जो देशविरतिपरिणामवाले हों वे चैत्यवन्दनके योग्य अधिकारी हैं। क्योंकि चैत्यवन्दनसूत्रमें “ कायं वोसिरामि ” इस शब्दसे जो कायोत्सर्ग करनेकी प्रतिज्ञा सुनी जाती है वह विरतिके परिणाम होनेपर ही घट सकती है। इसलिए यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि देशविरति परिणामवाले ही चैत्यवन्दनके योग्य अधिकारी हैं ॥

खुलासा—चैत्यवन्दनके अंदर “ ताव कायं, ठाणेण ” इत्यादि पाठके द्वारा कायोत्सर्गकी प्रतिज्ञा की जाती है। कायोत्सर्ग यह कायगुसिरूप विरति है, इसलिए विरति परिणामके मिवाय चैत्यवन्दन-अनुष्ठान करना अनविकार-चेष्टामात्र है। देशविरतिवालेको चैत्यवन्दनका अधिकारी कहा है सो मध्यम अधिकारीका सूचनमात्र है। जैसे तराजूकी दण्डी बीचमें पकड़नेसे उसके दोनों पलडे पकड़में आ जाते हैं वैसे ही मध्यम अधिकारीका कथन करनेसे नीचे और ऊपरके अधिकारी भी ध्यानमें आ जाते हैं। इसका फलित अर्थ यह है कि सर्वविरतिवाले मुनि तो चैत्यवन्दनके तात्त्विक अधिकारी हैं और अपुनबंधक या सम्यग्दृष्टि व्यवहारमात्रसे उसके अधिकारी हैं, परन्तु जो कमसे कम अपुनबंधक भावसे भी खाली हैं अतएव जो विधिवहुमान करना नहीं जानते वे सर्वथा चैत्यवन्दनके अनधिकारी हैं।

इससे वैसे आत्माओंको चैत्यवन्दन न तो सिखाना चाहिए और न कराना चाहिए। चैत्यवन्दनके अधिकारकी इस चर्चासे अन्य क्रियाओंके अधिकारका निर्णय भी स्वयं करलेना चाहिए ॥

जो लोग ऐसी शङ्का करते हैं कि अविधिसे भी चैत्यवन्दन आदि क्रिया करते रहनेसे दूसरा फायदा हो या नहीं पर तीर्थ चालू रहनेका लाभ तो अवश्य है। अगर विधिका ही खयाल रखा जाय तो वैसा अनुष्टान करनेवाले इनेगिने अर्थात् दो चार ही मिलेंगे और जब वे भी न रहेंगे तब क्रमशः तीर्थका उच्छेद ही हो जायगा। इसलिए कमसे कम तीर्थको कायम रखनेके लिए भी अविधि-अनुष्टानका आदर क्यों न किया जाय? इसका उत्तर उन शङ्कावालोंको ग्रन्थकार देते हैं—

गाथा १४—अविधि अनुष्टानकी पुष्टिमें तीर्थके अनुच्छेदकी वातका सहारा लेना ठीक नहीं है, क्योंकि अविधि चालू रखनेसे ही असमझस अर्थात् शास्त्रविरुद्ध विधान जारी रहता है, जिससे शास्त्रोक्त क्रियाका लोप होता है यह लोप ही तीर्थका उच्छेद है ॥

खुलासा—अविधिके पक्षपाती अपने पक्षकी पुष्टिमें यह दलील पेश करते हैं कि अविधिसे और कुछ नहीं तो तीर्थकी रक्षा होती है, परन्तु उन्हें जानना चाहिए कि तीर्थ

मिफ जनसमुदायका नाम नहीं है किन्तु तीर्थका मतलब शास्त्रोक्त क्रियावाले चतुर्विध संघर्ष है। शास्त्राज्ञा नहीं मान-नेवाले जनसमुदायको तीर्थ नहीं किन्तु हड्डीओंका संघात-मात्र कहा है। इस दशामें यह स्पष्ट है कि यदि तीर्थकी रक्षाके बहानेसे अविधिका स्थापन किया जाय तो अन्तमें अविधिमात्र वाकी रहनेसे शास्त्रविहित क्रियारूप विधिका सर्वथा लोप ही हो जायगा। ऐसा लोप ही तीर्थका नाश है, इससे अविधिके पक्षपातियोंके पक्षमें तीर्थ-रक्षारूप लाभके बदले तीर्थ-नाशरूप हानि ही शेष रहती है जो मुनाफेको बहानेवालेके लिए मूल पूँजीके नाशके बराबर है॥

सूत्रोक्त क्रियाका लोप अहितकारी कैसे होता है यह दिखाते हैं—

गाथा १५—वह अथार्त् अविधिके पक्षपातसे होनेवाला सूत्रोक्त विधिका नाश वक्र ( अनिष्ट परिणाम देनेवाला ) ही है। जो स्वयं मरा हो और जो मारा गया हो उन दोनोंमें विशेषता अवश्य है, यह बात तीर्थके उच्छेदमें डरनेवालोंको विचारना चाहिए॥

खुलासा—जो शिथिलाचारी गुरु भोले शिष्योंको धर्मके नामसे अपनी जालमें फँसते हैं और अविधि ( शास्त्र-विरुद्ध ) धर्मका उपदेश करते हैं उनसे जब कोई शास्त्र-विरुद्ध उपदेश न देनेके लिये कहता है तब वे धर्मोच्छेदका

भय दिखा कर बिगड़ कर थोल उठते हैं कि “जैसा चल रहा है वैसा चलने दो, वैसा चलते रहनेसे भी तीर्थ (धर्म) टिक सकेगा । बहुत विधि ( शास्त्र अनुकूलता ) का ध्यान रखनेमें शुद्ध क्रिया तो दुर्लभ ही है, अशुद्ध क्रिया भी जो चल रही है वह छूट जायगी और अनादिकालीन अक्रियाशीलता ( प्रमादवृत्ति ) स्वयं लोगोंपर आक्रमण करेगी जिससे तीर्थका नाश होगा ।” इसके सिवाय वे अपने अविधिमार्गके उपदेशका बचाव यह कह कर भी करते हैं कि “जैसे धर्मक्रिया नहीं करनेवालेके लिए हम उपदेशक दोष भागी नहीं हैं वैसे ही अविधिसे क्रिया करनेवालेके लिए भी हम दोषभागी नहीं । हम तो क्रियामात्रका उपदेश देते हैं जिससे कमसे कम व्यावहारिक धर्म तो चालु रहता है और इस तरह हमारे उपदेशसे धर्मका नाश होनेके बदले धर्मकी रक्षा ही हो जाती है ।”

ऐसा पोचा बचाव करनेवाले उन्मार्ग-गामी उपदेशक गुरुओंसे ग्रंथकार कहते हैं कि एक व्यक्तिकी मृत्यु स्वयं हुई हो और दूसरी व्यक्तिकी मृत्यु किसी अन्यके द्वारा हुई हो इन दोनों घटनाओंमें बड़ा अन्तर है । पहली घटनाका कारण मरनेवाले व्यक्तिका कर्म मात्र है, इससे उसकी मृत्युके लिए दूसरा कोई दोषी नहीं है । परन्तु दूसरी घटनामें मरनेवाले व्यक्तिके कर्मके उपरान्त मारनेवालेका दुष्ट आशय भी नि-

मित्त है, इससे उस घटनाका दोषभागी मारनेवाला अवश्य है। इसी तरह जो लोग स्वयं अविधिसे धर्मक्रिया कर रहे हैं उनका दोष धर्मोपदेशकपर नहीं है, पर जो लोग अविधिमय धर्मक्रियाका उपदेश सुन कर उन्मार्गपर चलते हैं उनकी जवाबदेही उपदेशकपर अवश्य है। धर्मके जिज्ञासु लोगोंको अपनी क्षुद्र स्वार्थवृत्तिके लिए उन्मार्गका उपदेश करना वैसा ही विश्वासधात है जैसा शरणमें आये हुएका सिर काटना। जैसा चल रहा है ऐसा चलने दो यह दलील भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी उपेक्षा रखनेसे शुद्ध धर्मक्रियाका लोप हो जाता है जो वास्तवमें तीर्थोच्छेद है। विधिमार्गके लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहनेसे कभी किसी एक व्यक्तिको भी शुद्ध धर्म प्राप्त हो जाय तो उसको चाँदह लोकमें अमारीपटह बजवानेकीसी धर्मोन्नति हुई समझना चाहिए अर्थात् विधि पूर्वक धर्मक्रिया करनेवाला एक भी व्यक्ति अविधि पूर्वक धर्मक्रिया करनेवाले हजारों लोगोंसे अच्छा है। अतएव जो परोपकारी धर्मगुरु हों उन्हें ऐसी दुर्बलताका आश्रय कभी न लेना चाहिये कि इसमें हम क्या करें ? हम तो सिर्फ धर्मक्रियाका उपदेश करते हैं, अविधिका नहीं। धर्मोपदेशक गुरुओंको यह बात कभी न भूलनी चाहिए कि विधिका उपदेश भी उन्हींको देना चाहिये जो उसके श्रवणके लिये रसिक हों। अयोग्य पात्रको ज्ञान देनेमें भी महान् अनर्थ

होता है, इसलिए नीच आशयवाले पात्रको शास्त्र छुनानेमें उपदेशक ही अधिक दोषका पात्र है। यह जियम है कि पाप करनेवालेकी अपेक्षा पाप करनेवाला ही अधिक दोषभारी होता है। अतएव योग्यपात्रको शुद्ध शास्त्रोपदेश देना और स्वयं शुद्ध प्रवृत्ति करना यही तीर्थरक्षा है, अन्य सब बहाना मात्र है॥

उक्त चर्चा सुन कर मोटी बुद्धिके कुछ लोग यह कह उठते हैं कि इतनी वारीक वहसमें उत्तरना बृथा है, जो यहुतोंने किया हो वही करना चाहिए, इसके सबूतमें “महाजनो येन गतः स पन्थाः” यह उक्ति प्राप्तिद्वारा है। आज कल बहुधा जीतव्यवहारकी ही प्रवृत्ति देखी जाती है। जबतक तीर्थ रहेगा तबतक जीतव्यवहार रहेगा इसलिए उसीका अनुसरण करना तीर्थ रक्षा है। इम कथनका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—

गाथा १६—लोकसंज्ञाको छोड कर और शास्त्रके शुद्ध रहस्यको समझ कर विचारशील लोगोंको अत्यन्त सूच्म बुद्धिसे शुद्ध प्रवृत्ति करना चाहिए।

खुलासा—शास्त्रकी परवा न रख कर गतानुगतिक लोकप्रवाहको ही प्रमाणभूत मान लेना यह लोकसंज्ञा है। लोकसंज्ञा क्यों छोडना ? महाजन किसे कहते हैं और जीतव्यवहारका मतलब क्या है ? इन बातोंको समझानेके लिए

ज्ञानसारके जो श्लोक टीकामें उद्धृत किये गये हैं वे वह महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए उनमेंमें कुछका सार दिया जाना है-

यदि लोगोंपर भरोसा रख कर ही कर्तव्यका निश्चय किया जाय अर्थात् जो बहुतोंने किया वही ढीक है ऐसा मान लिया जाय तो फिर मिथ्यान्व त्याज्य नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि उमका सेवन अनेक लोक अनादि कालसे करते आये हैं।

अनायोंमें आर्य थोड़े हैं, आयोंमें भी जैनोंकी अर्थात् समझाववालोंकी संख्या कम है। जैनोंमें भी शुद्ध श्रद्धावाले कम, और उनमें भी शुद्ध चारित्रवाले कम हैं।

व्यवहार हो या परमार्थ, सब जगह उच्च वस्तुके अधिकारी कम ही होते हैं, उदाहरणार्थ—जैसे रन्नोंके परीक्षक ( जौहरी ) कम, वैसे आत्मपरीक्षक भी कम ही होते हैं।

शास्त्रानुसार वर्तन करनेवाला एक भी व्यक्ति हो तो वह महाजन ही है। अनेक लोग भी अगर अज्ञानी हैं तो वे सब मिल कर भी अन्धोंके समूहकी तरह वस्तुको यथार्थ नहीं जान सकते।

संविग्र ( भवभीरु ) पुरुषने जिसका आचरण किया हो, जो शास्त्रसे बाधित न हो और जो परम्परासे भी शुद्ध हो वही जीतव्यवहार है।

शास्त्रका आश्रय न करनेवाले असंविश पुरुषोंने जिसका आचरण किया हो वह अन्ध-परम्परा मात्र है, जीतव्य-वहार नहीं ।

क्रिया विल्कुल न करनेकी अपेक्षा कुछ न कुछ क्रिया करनेको ही शास्त्रमें अच्छा कहा गया है, इसका मतलब यह नहीं कि शुरूसे आविधिमार्गमें ही प्रवृत्ति करना, किन्तु उसका भाव यह है कि विधिमार्गमें प्रवृत्ति करने पर भी अगर असावधानी वश कुछ भूल हो जाय तो उस भूलसे डर कर विल्कुल विधिमार्गको ही नहीं छोड़ देना किन्तु भूल सुधारनेकी कोशीस करते रहना । प्रथमाभ्यासमें भूल हो जानेका सम्भव है पर भूल सुधारलेनेकी दृष्टि तथा प्रयत्न हो तो वह भूल भी वास्तवमें भूल नहीं है । इसी अपेक्षासे अशुद्ध क्रियाको भी शुद्ध क्रियाका कारण कहा है । जो व्यक्ति विधिका बहुमान न रख कर आविधिक्रिया किया करता है उसकी अपेक्षा तो विधिके प्रति बहुमान रखनेवाला पर कुछ भी न करनेवाला अच्छा है ॥

मूल विषयका उपसंहार करते हैं—

गाथा १७—प्रस्तुत विषयमें प्रासंगिक विचार इतना ही काफी है । स्थान आदि पूर्वोक्त पाँच योगोंमें जो प्रयत्न-शील हों उन्हींके चैत्यवन्दन आदि अनुष्ठानको सदनुष्ठानरूप समर्खना चाहिए ॥

खुलासा—मुख्य बात चैत्यवन्दनमें स्थानादि योग घटानेकी चल रही थी, इसमें प्रसंगवश तीर्थोच्चेद क्या वस्तु है ? और तीर्थरक्षाके लिए विधिप्ररूपणाकी कितनी आवश्यकता है ? इत्यादि प्रामाणिक विषयकी चर्चा भी की गई । अब मूल बातको समाप्त करते हुए ग्रन्थकारने अन्तमें यही कहा है कि चैत्यवंदन आदि क्रिया धर्मका कलेवर अर्थात् बाह्यरूप मात्र है । उसकी आत्मा तो स्थान, वर्ण आदि पूर्वोक्त योग ही हैं । यदि उक्त योगोंमें प्रयत्नशील रह कर कोई भी क्रिया की जाय तो वह सब क्रिया शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम मंस्कारोंकी पुष्टिका कारण हो कर सदनुष्ठानरूप होती है और अन्तमें कर्मक्षयका कारण बनती है ॥

सदनुष्ठानके भेदोंको दिखाते हुए उसके अन्तिम भेद अर्थात् असंगानुष्ठानमें अन्तिम योग ( अनालम्बनयोग )का समावेश करते हैं—

गाथा १८—प्रीति, भक्ति, वचन और असंगके सम्बन्धसे यह अनुष्ठान चार प्रकारका समझना चाहिए । चारमेंसे असङ्गानुष्ठान ही चरम अर्थात् अनालम्बन योग है ।

खुलासा—भावशुद्धिके तारतम्य ( कर्मीवेशी ) से एक ही अनुष्ठानके चार भेद हो जाते हैं । वे ये हैं—(१) प्रीति-अनुष्ठान, (२) भक्ति-अनुष्ठान, (३) वचनानुष्ठान, और (४) असङ्गानुष्ठान ।

इनके लक्षण इस प्रकार हैं— ( १ ) जिस क्रियामें प्रीति-अनुष्टानी अधिक हो कि अन्य सब काम छोड़ कर मिर्झ उसी क्रियाके लिए तीव्र प्रयत्न किया जाय तो वह क्रिया प्रीति-अनुष्टान है । ( २ ) प्रीति-अनुष्टान ही भक्ति-अनुष्टान है । अन्तर दोनोंमें इतना ही है कि प्रीति-अनुष्टानकी अपेक्षा भक्ति-अनुष्टानमें आलम्बनस्प विषयके प्रति विशेष आदर-चुदि होनेके कारण प्रत्येक व्यापार अधिक शुद्ध होता है । जैसे पत्नी और माता दोनोंका पालन भोजन वस्त्र आदि एक ही प्रकारमें किया जाता है परन्तु दोनोंके प्रति भावका अन्तर है । पत्नीके पालनमें प्रीतिका भाव और माताके पालनमें भक्तिका भाव रहता है, वैसे ही बाहरी व्यापार समान होनेपर भी प्रीति-अनुष्टान तथा भक्ति-अनुष्टानमें भावका भेद रहता है । ( ३ ) शास्त्रकी ओर दृष्टि रख करके सब कायोंमें साधु लोगोंकी जो उचित प्रवृत्ति होती है वह वचनानुष्टान है । ( ४ ) जब संस्कार इतने दृढ़ हो जाय कि प्रवृत्ति करते समय शास्त्रका स्मरण करनेकी आवश्यकता ही न रहे अर्थात् जैसे चन्दनमें सुगंध स्वाभाविक होती है वैसे ही संस्कारोंकी दृढ़ताके कारण प्रत्येक धार्मिक नियम जीवनमें एकरस हो जाय तब असङ्गानुष्टान होता है । इसके अधिकारी जिनकल्पिक साधु होते हैं । वचनानुष्टान और असङ्गानुष्टानमें फर्क इतना ही है कि पहला तो शास्त्रकी प्रेरणासे किया जाता है और दूसरा उसकी प्रेरणाके सिवाय

शास्त्रजनित संस्कारोंके बलमें; जैसे कि चाकके घृमनेमें पहला घृमाव तो डंडकी प्रेरणासे होता है और पिछेका मिर्फ दंडजनित योगसे । असङ्गानुष्टानको अनालम्बन योग इसलिए कहा है कि—“ संगको त्यागना ही अनालम्बन है ” ।

योगके कुल अस्मीं भेद बतलायें हैं सो इस प्रगार—  
म्बान, ऊर्ण आदि पूर्वोक्त पाँच प्रकारके योगके इच्छा,  
प्रवृत्ति, स्थिरता और मिठ्ठि ऐसे चार चार भेद करनेसे वीस भेद हुए । इन वीसमेंसे हर एक भेदके प्रीति—अनुष्टान, मक्ति—  
अनुष्टान, वचनानुष्टान और असङ्गानुष्टान ये चार चार भेद होते हैं अतएव वीसको चारसे गुनने पर अस्मीं भेद हुए ॥

आलम्बनके वर्णनके द्वारा अनालंबन योगका स्वरूप दिखाते हैं—

गाथा १६—आलम्बन भी स्पी और अरूपी इस तरह दो प्रकारका है । परम अर्थात् मुक्त आत्मा ही अरूपी आलम्बन है, उस अरूपी आलम्बनके गुणोंकी भावनारूप जो ध्यान है वह सूच्म ( अतीनिद्रिय विषयक ) होनेसे अनालम्बन योग कहलाता है ॥

खुलासा—योगका ही दूसरा नाम ध्यान है । ध्यानके मुख्यतया दो भेद हैं, सालम्बन और निरालम्बन । आलम्बन ( ध्येय विषय ) मुख्यतया दो प्रकारका होनेसे ध्यानके उक्त दो भेद समझने चाहिए । आलम्बनके स्पी और अ-

रूपी ये दो प्रकार हैं। इन्द्रियगम्य वस्तुको रूपी ( स्थूल ) और इन्द्रिय-अगम्य वस्तुको अरूपी ( सूक्ष्म ) कहते हैं। स्थूल आलम्बनका ध्यान सालम्बन योग और सूक्ष्म आलम्बनका ध्यान निरालम्बन योग है, अर्थात् विषयकी अपेक्षासे दोनों ध्यानमें फर्क यह है कि पहलेका विषय आँखोंसे देखा जा सकता है और दूसरेका नहीं। यद्यपि दोनों ध्यानके अधिकारी छविस्थ ही होते हैं, परन्तु पहलेकी अपेक्षा दूसरेका अधिकारी उच्च भूमिकावाला होता है; अर्थात् पहले ध्यानके अधिकारी अधिकसे अधिक छट्टे गुणस्थान तकके ही स्वामी होते हैं परन्तु दूसरे ध्यानके अधिकारी सातवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतकके स्वामी होते हैं।

आमनारूढ़ वीतराग प्रभुका या उनकी मृत्ति आदिका जो ध्यान किया जाता है वह सालम्बन और परमात्माके ज्ञान आदि शुद्ध गुणोंका या संसारीआत्माके औपाधिक रूपको छोड़ कर उसके स्वाभाविक रूपका परमात्माके माथ तूलना पूर्वक ध्यान करना निरालम्बन ध्यान है; अर्थात् निरालम्बन ध्यान आत्माके तात्त्विक स्वरूपको देखनेकी निःसंग और अखंड लालसारूप है। ऐसी लालसा त्रपकश्रेणी सम्बन्धी दूसरे अपूर्वकरणके समय पाये जानेवाले धर्मसंन्यासरूप सामर्थ्ययोगसे होती है।

हरिभद्रसूरिने षोडशकमें बाणमोचनके एक रूपकके द्वारा अनालंबन ध्यानका स्वरूप समझाया है सो इस प्र-

कार है—क्षपकआत्मारूप धनुर्धर, क्षपकश्रेणीरूप धनु-  
षके ऊपर अनालम्बनयोगरूप वाणीको परमात्मतत्त्वरूप  
लक्ष्यके सम्मुख इस तरह चढ़ाता है कि वाणी छूटनेरूप  
अनालम्बन ध्यानकी समाप्ति (जिसको शास्त्रमें  
ध्यानान्तरीका कहते हैं) होते ही लक्ष्यवेधरूप परमात्म-  
तत्त्वका प्रकाश होता है, यही केवलज्ञान है जो अनालम्बन  
ध्यानका फल है। आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके पूर्वमें जबतक  
उसकी प्रवल आकाङ्क्षा थी तबतकका विशिष्ट प्रयत्न निरा-  
लम्बन ध्यान है, परन्तु केवलज्ञान होनेपर आत्मतत्त्वके  
साक्षात्कारकी इच्छा न रहनेसे अनालम्बन ध्यान नहीं है  
तो भी आत्मतत्त्वविषयक केवलज्ञानरूप प्रकाशको सालम्बन  
योग कह सकते हैं। यहाँ यह जानना चाहिए कि केवलि-  
अवस्था प्राप्त होनेके बाद जबतक योग निरोधके लिए प्रयत्न  
नहीं किया जाता तबतककी स्थितिको एक प्रकारकी-  
विश्रान्ति मात्र कह सकते हैं, ध्यान नहीं; क्योंकि ध्यान  
विशिष्ट प्रयत्नका नाम है जो केवलज्ञानके पहले या योग-  
निरोध करते समय होता है ॥

उक्त रीतिमें सालम्बन, निरालम्बन ध्यानका वर्णन  
करके अब निरालम्बन ध्यानसे होनेवाले फलोंको क्रमसे  
दिखाते हैं—

गाथा २०—इम निरालम्बन ध्यानके सिद्ध हो जाने  
पर मोहम्मागर पार हो जाता है यही क्षपकश्रेणीकी सिद्धि

[ १३८ ]

है, इस मिद्दिसे केवलज्ञान और केवलज्ञानमें अयोग नामक योग तथा परम निर्वाण क्रमशः होता है ॥

**खुलासा**—मोहकी रागद्वेषरूप वृत्तियाँ पौद्दलिक अध्यासका परिणाम है और निरालम्बन ध्यानका विषय शुद्ध चैतन्य है । अतएव मोह और निरालम्बन ध्यान ये दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व हैं । निरालम्बन ध्यानका आरम्भ हुआ कि मोहकी जड़ कटने लगी, जिसको जैनशास्त्रमें क्षपकथ्रेणीका आरम्भ कहते हैं । जब उक्त ध्यान पूर्ण अवस्था तक पहुँचता है तब मोहका पाशवंधन मर्यादा टूट जाता है, यही क्षपकथ्रेणीकी पूर्णाहुति है । महर्षि पतञ्जलिने जिस ध्यानको सम्प्रज्ञात कहा है वही जैनशास्त्रमें निगलम्बन ध्यान है । क्षपकथ्रेणीके द्वारा मर्यादा वीतराग दशा प्रकट हो जाने पर आत्मतत्त्वका पूर्ण मात्रात्कार होता है, जो जैनशास्त्रमें केवलज्ञान और महर्षि पतञ्जलिकी भाषामें असम्प्रज्ञात योग कहलाता है । केवलज्ञान हुआ कि मानसिक वृत्तियाँ नष्ट हुई और पीछे एक ऐसी अयोग नामक योगावस्था आती है जिससे रहे-सहे वृत्तिके वीजरूप सूच्चम संस्कार भी जल जाते हैं, यही विदेह मुक्ति या परम निर्वाण है ॥

॥ समाप्त ॥

[ १३६ ]

योगसूत्रवृत्ति तथा योगविशिकावृत्तिमें प्रमाण-  
रूपमें आये हुए अवतरणोंका वर्णन-  
क्रमानुसारी परिशिष्ट. नं० १

श्लोक.	पृष्ठ.	श्लोक.	पृष्ठ.
अ		ए	
अन्यन्तवलभावलु	८२	एकाऽपि शास्त्रनीत्या	७८
अनाभोगवश्चेत्	७२	एतद्रागादिदं हेतुः	७२
अपुनवैन्धकस्यायं	८३	पताः खल्वभ्यासात्	११
अविहिकया वरमकयं	७८	एमां अणाइमं चिय	९
अशुद्धापि हि शुद्धाया	७९	ओ	
अमतो णन्थि णिमंहो	४	ओमस्त्रो वि विहारे	१०
अमंप्रज्ञात पपोऽपि	७	क	
अस्मिन् हृदयस्थे मति	१५	का अरद क आणंदे	८
आ		कार्यद्रव्यमनादि स्या-	३१
आकल्पत्यवहाराय	७८	क्लशपक्षिर्मतिज्ञानात्	४४
आशयभेदा पते	२६	ग	
इ		गोरक्षविद्याप्रयोगात्	८२
इच्छा तद्रक्षार्थीतिः	८६	च	
उ		चक्रब्रमणं दण्डात्	८२
उपकारिम्बवजनेतर-	१०	ज	
ऊ		जइ वि ण मकं काउं	८०
ऊसामंण णिरुभइ	११	जम्मिमेसहाय	३७
	१८	जह मरणमुवगयाणं	७६

जा जा हविज्ञ	७९	ब.
जिनोदितमिति	७२	ब्राह्मं तपः परमदुश्शर-
जो जाणइ अरिहंते	८७	भ.
झा झेये कथमज्ञः	८४	भवीजमनन्तमुज्जिते
		म.
ण सका रुधमहुं	३७	मुक्खेण जोअणाओ
त.		मूलप्रकृत्यभिन्नाः
तवाग्रतिष्ठितोऽयं	८५	य.
तर्वैव तु प्रवृत्तिः	९७	यं यं चापि स्मरन् भायं
तस्माच्छ्रुतानुसा-	७८	यवादग्रोऽस्ति परमः
तात्त्विकः पक्षपात-	७९	यत्त्वभ्यासातिशयात
द.		यत्संविज्ञजनाचीर्ण
दिव्यभोगाभिलाषेण	७२	यदाचीर्णमसंविग्रैः
देशादिभेदतश्चित्र-	६२	यमनियमासन-
द्रागस्मानदर्शन-	८५	यः शृण्वन सिद्धान्तं
		ल.
ध.		लोकमालस्वयं कर्तव्यं
धर्मसंघोऽमृतात्मा च	७	ब.
न.		वचनामिका प्रवृत्तिः
नैवंविधय शरनं-	७७	विप्रजयस्त्रिविधः
प.		विष्ण गर्वः ननुष्टानं
परहितचिता मैत्री	१०	विष्ण लक्ष्याद्येक्षातः
प्रणिधानादिभावेन	६०	श.
प्रणिधानं तस्मये	८७	शास्त्रसंदर्शितांपाय-
प्रणिधिप्रवृत्तिविप्र-	८७	श्रेयोऽथिनो हि भूयांसो

[ १४१ ]

स.		मिद्देश्वात्तरकार्य	५०
	मयतानि तवाक्षाणि	मुखमात्रं मद्देता-	५१
३७	मकुदावर्तनादीनां	मुद्देष्यनवाचारणं	५२
६४	मन्त्रयेव दिनरात्रिभ्यां	मर्त्तं चान्मपगर्थ -	५३
६३	ममाधिरेष पवान्यैः	स्तोका आर्या अना-	५४
६	मास्त्यर्योग्यता या	म्यानोणीर्थालम्बन-	५५
८४	मात्रम्बनो निगलम्ब -	ह.	
५९	मिद्दुस्तत्तद्दर्म -	हियाहारा मियाहारा	५६

---

योगमूलवृत्ति और योगविशिकाटीकामें आये हुए अवतरणों-  
का कर्ता और ग्रन्थके नाम निर्देश संबंधी परिशेष २

—♦♦(◎)♦♦ —

( आर्ष )—

( आचारांगसूत्र पत्र ६ )

शीतोष्णीयाध्ययन ( आचारांगगत ) पत्र ३७ ।

स्थानाङ्क पत्र १९ ।

( भगवतगीता पत्र २५ )

गच्छाचार पत्र ८० ।

महावादी—

( सिद्धसेन द्विवाकर )—( द्वार्तिशिक्षा पत्र २९ । )

स्तुतिकारः—पत्र ३७

( कुन्दकुन्द )—

( प्रवचनसार ) पत्र ८७ 'जो जाणइ अरिहंत०' प्र-१ गा-८४।

भाष्यकृत—

( जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण )—( विशेषावश्यक पत्र ४ । )

महाभाष्यकार—

( जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण )—( विशेषावश्यक पत्र ८६ । )

१ ऐसे कोष्ठकमें हमारा मतलब यह है कि-उस उस स्थानमें प्रयत्नारन आचार्य  
या प्रयत्न उद्देश नहीं किया किन्तु हमने अपनी ओरसे न्वोज करके सुवन किया है ।

२ इस स्तुतिकार शब्दसे प्रथकारको सिद्धसेन अभिप्रेत है या समन्तभद्र, इसका  
पता हमें अभी नहीं लगा ।

[ १४३ ]

### पतञ्जलि—

( योगसूत्र पत्र ६१ )

अकलङ्क— पत्र ३१ ।

### हरिभद्र—

( योगविद्विशिका पत्र २ । )

अनादिविद्विशिका पत्र ९ ।

सद्गुर्मविद्विशिका पत्र ६८ ।

योगविन्दु पत्र (६) ७ (४४) ६२ (६३-६४) ७१, ७२ ।

घोडशक पत्र ११ ( ५६-५७-५९ ) ६१-७६ ( ८१-८२ )

८३ (८५) ।

योगदृष्टि समुच्चय—पत्र ७०, (८४) ।

### ( यशोभद्रसूरि )—

घोडशकवृत्ति पत्र ६१ ।

### यशोविजय—

घोडशक टीका—पत्र-११ ।

( ज्ञानसार पत्र-६३-७८ । )

कर्मप्रकृति वृत्ति—पत्र-२६ ।

लता                   पत्र-४६ ।

संग्रहश्लोक     पत्र-६६ ।

सद्गुर्मविद्विशिका ( टीका ) पत्र-६८ ।

### अलब्धकर्तुनाम-अलब्धग्रन्थनाम—

१५-२६-३७-४४-६३-७८-७९ ।

---

---